लोगों ने प्रकृति के आलम्बन रूप की भी चर्चा क्यों नहीं की, तो उस विषय में स्पष्ट कहा जा सकता है कि वे लोग प्रकृति सौन्दर्य से समुद्भूत रागमूलक उत्फुल्लता को रस कोटिक या रस स्तरीय निष्पत्ति नहीं मानते --भावात्मक रस-दशा भले ही मानते रहे हों।

प्राचीन आचार्यों पर यह आक्षेप भी ठीक नहीं है कि उन लोगों ने 'बिम्बग्रहण' की चर्चा कहीं नहीं की। शब्द-शक्ति या अभिधा निरूपण के प्रसंग में इस कोटि का अर्थ ग्रहण अविवेच्य है, कारण, वहाँ तो 'सामान्य' वाचक शब्दों के सामान्य या 'जाति' रूप अर्थ का विवेचन अवसरोचित है। 'कमल' शब्द के उदाहरण से जिस मूर्त्त अर्थ के ग्रहण की चर्चा की है, वह शब्द की सामर्थ्य का नहीं, ग्राहक की ग्रहण शक्ति का वैशिष्ट्य है। वाक्य द्वारा जो संश्लिष्ट चित्र मिलते हैं—उनकी भी चर्चा पद या शब्द-शक्ति के सामर्थ्य के सन्दर्भ में उचित नहीं है। पर महिमभट्ट ने 'स्वभावोक्ति' की स्थापना करते हुए कहा है कि शब्द से दो प्रकार के अर्थ मिल सकते हैं—परोक्षात्मक और प्रत्यक्षायमाण। स्वभावोक्ति में निरूपित वाच्य द्वारा उपस्थापित यह प्रत्यक्षायमाण अर्थ संश्लिष्ट चित्र ही है—बिम्बग्रहण ही है। अतः प्राचीन आचार्यों ने सर्वथा इसकी चर्चा ही नहीं की—यह कहना तो ठीक नहीं है परन्तु हाँ, इतना विस्तार उन लोगों ने नहीं दिया है।

शुक्लजी का यह मत है कि भावव्यंजना में समर्थ विभाव पक्ष का जो धारा-वाही चित्र प्रबन्ध में सम्भव है वह प्रगीत और मुक्तक में नहीं, अतः प्रबन्ध की स्थिति मुक्तक तथा प्रगीत से सुतरां श्रेष्ठतर है, आँख मूँदकर स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राचीन आचार्यों ने कहा कि एक-एक मुक्तक भी इस तरह के बन जाते हैं कि उनसे सैकड़ों प्रबन्धों की रसधारा प्रवाहित हो सकती है। हाँ, प्रतीत में 'विशेष' का आग्रह चाहे जो करे, पर यदि अदम्य अनुभूति का स्रोत उसकी रचना-प्रक्रिया में निहित है, तो उसकी रसात्मकता में भी क्या सन्देह है—हाँ, यह अवश्य है कि वह प्रबन्ध की भाँति उतनी देर तक ग्राहक को रसमग्न नहीं रख सकता। पर काव्य में मात्रा की तुलना में क्या 'गुण' को हीनतर घोषित करना उचित है? यहाँ मुक्तक एवं प्रबन्धगत रसचर्वणा के तारतम्य पर विचार करना आवश्यक है।

भावव्यंजक विभावात्मक वस्तु या व्यक्ति की कल्पनागत मूर्ति को शुक्लजी 'व्यक्ति' रूप ही मानते हैं, तन्निहित आलम्बनत्वधर्म को अवश्य लोक सामान्य स्तरीय स्वीकार करते हैं। 'व्यक्ति' की कथमपि स्थिति तो प्राचीन आचार्य भी मानते हैं, पर उसकी वैयक्तिकता निर्धारक सीमाओं की नियमतः प्रतीति को बाधक मानते हैं।

रूप विधान के विभिन्न रूप, रस-प्रतीति के लिए अपेक्षित दो भूमिकाएँ, मनोमयकोष तक ही रस की स्थिति-जसी स्थापनाएँ रस की लोक तक व्याप्ति स्वीकार करने के ही फलस्वरूप आयी हैं। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि मैं इसे रस की व्याप्ति नहीं, अतिव्याप्ति मानता हूँ।

इस प्रकार व्यावहारिक लोकादर्श की निजी धारणाओं तथा कतिपय अनुकूल पड़नेवाली मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं के आधार पर शुक्लजी ने जो रस विवेचन प्रस्तुत किया, उसने रस के स्वरूप को सर्वसामान्य की बुद्धिसंगत भूमिका तो दी, परन्तु उसकी 'व्याप्ति' इतनी बढ़ाई, उसका उपयोग इतना आदर्शपर्यवसायी कर दिया कि 'रस' अपनी साहित्यिक सीमा को लाँघ-सा गया।

आलोचकप्रवर नन्ददुलारे वाजपेयी

टी. एस. इलियट ने अपने निबन्धों में समीक्षक के स्वरूप और समीक्षा के प्रयोजनों पर अनेकत्र विचार किया है और कई प्रकार से किया है।[1] उसने कहा है कि महत्व-पूर्ण आलोचक वह है, जो कला की वर्तमान समस्याओं में निमग्न होते हुए भी उन समस्याओं पर अतीत की मान्यताओं की प्रासंगिकता प्रदर्शित करना चाहता है। इसके अतिरिक्त इलियट की दृष्टि में आलोचना के निम्नलिखित कार्य हैं—

1. काव्य के स्वरूप का अनुसंधान।
2. अच्छे और बुरे काव्य का भेद-निरूपण।
3. साहित्य की जीवन्त परम्परा का परिरक्षण।
4. कलाकृतियों का विशदन।
5. रुचि परिष्कार।
6. साहित्य के बोध और आस्वादन का संवर्धन।
7. स्थायी कलात्मक मूल्यों और मानदण्डों का समसामयिक कला पर विनियोग।

इन सूत्रों के निकष पर आचार्य वाजपेयी का तटस्थ आकलन होगा। प्रत्येक अंतःप्रज्ञासम्पन्न आलोचक सौभाग्य से किसी साहित्य को वर्षों बाद मिलता है। यह आलोचक पहले तो अपनी पूरी रचनात्मक परम्परा पर दृष्टिपात करता है और अपने समय की नवीन उपलब्धियों से मण्डित नये साहित्य को आत्मसात् करता है, तब उसे लगता है कि साहित्य की परिभाषा को इतना व्यापक बनाना है, जिसमें क्रमागत अतीत और वर्तमान सभी समा सकें। सर्जनात्मक प्रतिभा-प्रसूत रचनात्मक साहित्य अपनी गतिशीलता में अवश्य कुछ-न-कुछ नया जोड़ता है, जिसका स्पष्ट आभास कुछ समय बाद मिलता है। सचेतस्क आलोचक का पहला कर्तव्य होता है—अपने समय तक के साहित्य को दृष्टिगत कर नये मान की सृष्टि करना। रचनात्मक साहित्य के साक्ष्य पर अपनी अन्तःप्रज्ञा से वह काव्य का नया प्रतिमान निर्मित करता है और सत्काव्य के लिए अपेक्षित घटकों का संकेत करता है।

आचार्य वाजपेयी से पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल यह काम अपनी रुचि के

अनुसार कर चुके थे और उनके मानदण्ड पर नया साहित्य (छायावादी मुद्रा से अंकित हो रहा साहित्य) अपना प्राप्य नहीं पा रहा था—फलतः, तदर्थ अपेक्षित (टेस्ट) आस्वाद या रुचि का न तो परिष्कार अपेक्षित मात्रा में हो रहा था और न ही उन कलाकृतियों की समझ के लिए उनका विशदन ही। यद्यपि आचार्य शुक्ल में वह अन्तःप्रज्ञा थी, जो नये साहित्य का विशदन कर सकती थी और इसका प्रमाण उनके इतिहास तथा निबन्धों में उपलब्ध है। 'छायावाद' शीर्षक नये काव्यान्दोलन से वे कितने नाराज हैं, इसका पता उनके 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक लेख से मिलता है। उन्होंने कहा है—"अब तक जो कुछ लिखा गया उससे यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दी में आ निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीजों का मुरब्बा है।"[2] वे रहस्यवाद और छायावाद को कभी-कभी पर्याय के रूप में भी प्रयोग करते हैं अथवा स्वतन्त्र रूप से छायावाद को शैली विशेष तक सीमित करते हैं। वे कहते हैं कि रहस्यवाद की कविताओं में दो बातें बहुत खटकती हैं। भावों में सच्चाई का अभाव और व्यंजना की कृत्रिमता। छन्द मुक्ति का विधान और लय का अनुधावन भी उन्हें अक्षमता का प्रतीक ही लगता है। छायावादी काव्य के तमाम उपकरण—वैयक्तिकता, कल्पनावाद, अध्यात्म, अभिव्यंजनावादी प्रभाव, प्रभाववादी प्रभाव, रहस्यवादी रुझान, कृत्रिम भाषा, छन्दोमुक्ति का आग्रह, गीतिमयता, उनकी रुचि के विरुद्ध थे। काव्य में वे वस्तुवादी थे, नैतिकता के माध्यम से काव्यास्वाद की बात करते थे, इसीलिए वे काव्य में विभाव पक्ष के प्राधान्यवादी थे और अलंकार तथा आलंकार्य का भेद मानकर चलते थे। इन सब कारणों से शुक्लजी न तो नये साहित्य का विशदन कर सके और न ही उसके प्रति रुचि पैदा कर सके। रुचि तो रुचि, अरुचि पैदा कर दी।

आचार्य शुक्ल के गुरुगम्भीर व्यक्तित्व से भर्त्सित साहित्य—छायावादी साहित्य के विशदन और रुचि परिष्कार का स्वतःस्फूर्त संकल्प लेकर आचार्य वाजपेयी हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में उतरे। उतरते ही उन्हें इस बात की आवश्यकता महसूस हुई कि साहित्य का स्वरूप और सत्साहित्य की प्रत्यभिज्ञापक रेखाओं को उभारा जाय। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' इलियट की उपर्युक्त मान्यताओं का मूर्त रूप है। वाजपेयीजी ने भूमिका में लिखा है—'एक ओर इसकी अमित प्रशंसा हुई थी और दूसरी ओर इसका प्रबल विरोध भी हुआ था।' वाजपेयीजी ने शुक्लजी के आक्षेपों को मनोगत कर ही कहा—"अक्सर कहा जाता है कि यह नवीन भवन विदेशों की नकल पर बना है। इसमें पाश्चात्य मध्यम-वर्गीय उत्थानकाल के आदर्श और डिजाइन की अनुकृति है। इस सम्बन्ध में मेरा इतना ही कहना है कि ईंट, चूना, गारा और मिट्टी जब स्वदेशी हैं तो केवल डिजायन विदेशी होने से क्या? और वह भी इसी अर्थ में विदेशी कही जा सकती है कि विदेशों में उससे मिलती-जुलती इमारतें बन चुकी थीं। किन्तु वे डिजाइनें स्वतः कट्टर प्रादेशिक राष्ट्रीयता (Nationalism) के प्रभावों से बनी हैं—उसमें एक-दूसरे की नकल के लिए अधिक गुंजाइश ही नहीं थी।"[3] वाजपेयीजी उलटे

यह भी कहते हैं—"शुक्लजी में पाश्चात्य बुद्धिवादियों का असर अधिक है।"[4] उनकी दृष्टि में मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द और शुक्लजी द्विवेदीयुगीन साहित्यकार हैं और इन तीनों की धारणा है कि विषय की ऊँचाई से काव्य की ऊँचाई का सम्बन्ध है। ये तीनों ही बुद्धिवादी, आदर्शवादी और नीतिवादी लेखक हैं, जिन्होंने मध्यवर्ग में जन्म लेकर भी मध्यवर्गीय पराजय के दर्शन नहीं किये थे। वाजपेयीजी की धारणा है कि द्विवेदी युग की बौद्धिकता और नीतिमत्ता सर्जनात्मक मन के समस्त द्वारों का उद्घाटन न कर सकी[5], काव्यविकास के बहुत से कपाट अवरुद्ध ही रहे। एक कपाट खोलने का उपक्रम श्रीधर पाठक के प्राकृतिक वर्णनों और उनके अंग्रेजी अनुवादों ने किया। दूसरा कपाट प्रसादजी के प्रयत्नों द्वारा खुला। जिन-जिन बातों को शुक्लजी ने कमी के रूप में रेखांकित किया, वाजपेयीजी ने उन-उनको ही इस काव्यान्दोलन की महत्ता, व्यापक विशेषता सिद्ध किया। रहस्यवाद को शुक्लजी फटकार चुके थे। वाजपेयीजी कहते हैं—किसी प्रकार का बुद्धिवादी प्रतिबन्ध न रहने के कारण प्रसादजी का काव्य-विकास निर्बाध और स्वच्छन्द गति से तथा बहुमुखी साहित्यिक सृष्टियों में हो पाया। प्रसाद[6] का वह जीवन दर्शन क्या है ? वह जीवनदर्शन है विशाल और बहुमुखी जीवनानुभूति का स्वाभाविक परिणाम—**रहस्यवाद**। शुक्लजी ने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में लिखा था—"मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं हूँ। मैं इसे भी कविता की एक शाखा विशेष (जिज्ञासा स्तर तक ही) मानता हूँ। पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं, उनके अज्ञान का निवारण मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ।"[7] वाजपेयीजी इस आक्रमण को नादिरशाही ढंग का बताते हैं और वैसा ही तमतमाया हुआ उत्तर देते हैं। वे कहते हैं—"समुचित विज्ञप्ति के अभाव में इसकी पूरी प्रतिष्ठा भी नहीं हो पायी थी कि इसके ऊपर कथित हमले शुरू हो गये।"[8] "काव्यात्मक परम्परा में इतने गहरे पैठे हुए समीक्षक भी जब इस प्रकार की सम्मति देते हैं—तब मानना पड़ता है कि इस युग की काव्यसृष्टि के साथ किसी अशुभ ग्रह का योग अवश्य हो गया था।"[9] वाजपेयीजी का कहना है—"उनमें (शुक्लजी का इतिहास तथा निबन्ध) आधुनिक साहित्य का विवेचन बड़ी मोटी कलम से किया गया है। नवीन साहित्य की प्रेरक शक्तियों, नवीन व्यक्तियों और नये विकास के अनुरूप उनकी रचनाओं की वास्तविक छानबीन में शुक्लजी एक प्रकार से उतरे ही नहीं।"[10] इस प्रकार वाजपेयीजी ने शुक्लजी की और अपनी समीक्षा दृष्टियों का अन्तर भी निरूपित किया है।

इस पक्ष-प्रतिपक्ष से यह स्पष्ट हुआ कि नये साहित्य के विशदन और अनुरूप रुचि-परिष्कार के लिए आलोचक कितनी महाप्राणता और आलोचन-क्षम ऊर्जा को लेकर आता है। इसी क्रम में आलोचक को संकल्पित साहित्य के मानसिक, कलात्मक, स्थायी और सांस्कृतिक मूल्यांकन के लिए अपने मानदण्ड निर्धारित करने पड़ते हैं। साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट करना पड़ता है ऐसा, जो तब तक के साहित्य के लिए पर्याप्त पड़ सके। शुक्लजी की ही तरह 'कविता क्या है'[11]—प्रश्न

उठाकर आचार्य वाजपेयी ने कहा—"काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्यसम्वेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्यसम्वेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं। कविता की परिभाषा के साथ उन्होंने उन मानदण्डों का भी उल्लेख किया, जिनसे कविता का उत्कर्षापकर्ष नापा जाता है। उन्होंने अपनी साहित्य समीक्षा सम्बन्धी प्रयास दिशा का भी उल्लेख किया है, जिनके आधार पर नये साहित्य का विशदन और रुचिपरिष्कार सम्पन्न हुआ है—आधार है—

1. रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन। (Analysis of the poetic spirit)।
2. रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन। (एस्थेटिक एप्रिसिएशन)
3. रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन। (Study of Techniques)
4. समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।
5. कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचनाकार पर उसके प्रभाव का अध्ययन। (मानस-विश्लेषण)
6. कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।
7. काव्य के जीवन सम्बन्धी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन।[12]

यह सही है कि वाजपेयीजी में शुक्लजी की चतुर्मुख शास्त्रीय प्रतिभा नहीं थी, पर यह भी सही है कि नये साहित्य के औचित्य-गर्भ मूल्यांकन के लिए अपेक्षित क्षमता वाजपेयीजी में ऐसी थी, जिससे वे अपना पृथक् प्रस्थान निर्मित कर सके। छायावादी काव्यान्दोलन में विदेशी प्रभाव की छानबीन में शुक्लजी जितना तत्पर हुए, उतना उसकी शक्तिमत्ता के परीक्षण में नहीं। नवजागरण का सांस्कृतिक स्वर, शक्ति का दर्शन, राग की राष्ट्रव्यापी ऊर्जा का विस्फोट, भाषा और छन्द की क्रमागत व्यवस्था से विद्रोह, सौन्दर्य की सीमा का विस्तार, काव्य की अखण्ड स्वायत्तता और समुन्नत मानस के हिमगिरि से उसका प्रसरण, आत्मवादी भारतीय चेतना से इस साहित्य की प्रतिभाओं का चेतन-अवचेतन स्तर पर सम्बन्ध, कविता को किसी अपरिमेय शक्ति से परिचालित होने में विश्वास—आदि बहुत-सी ऐसी बातें इस नये आन्दोलन या मोड़ में निहित थीं, जिधर शुक्लजी की दोषाच्छन्न दृष्टि न जा सकी। यह तो सही है कि किसी भी काव्यान्दोलन में मानदण्ड-प्रसवी रचना विरल होती है, बरसाती मेंढक ज्यादा होते हैं। और उनके कारण परिदृश्य स्पष्ट नहीं हो पाता, उफान शान्त होने पर ही उन्नत भूमियाँ साफ दिखायी देने लगती हैं। शुक्लजी ने भी राग और करुणा

को बीज-भाव कहा और उस पर आधारित प्रयत्नों की प्रशंसा की। और राग और करुणा का स्वर छायावाद में भी मुखर है—शुक्लजी ने भी माना कि काव्य में एकमात्र कुरूप और सुरूप की शब्दावली ही व्यवहृत होती है (उनकी दृष्टि में काव्य में कुरूपता का अवस्थान सौन्दर्य की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए)। छायावाद भी राग और करुणा का साहित्य है। वहाँ भी कवि की दृष्टि केवल सौन्दर्य की ओर जाती है। पर छायावादी काव्यचेतना में आत्मवाद या अध्यात्म के संस्पर्श से दमक उठनेवाली अतिरिक्त चारुता शुक्लजी की काव्यदृष्टि की परिधि से बाहर ही रह जाती है। माना कि दोष-गुण सर्वत्र होता है। पर यह भी सही है कि दोष की उदग्रता से गुण भी छिप जाते हैं। मध्यकाल का जागरण आन्तरिक ही था—पर उन्नीसवीं शती का जागरण अध्यात्म की भूमि पर अन्तर के साथ बाहर से भी सामरस्य लाने की ओर उन्मुख था। यह बात दूसरी है कि भौतिक और बुद्धिवादी पाश्चात्य अभिमान ने, अपनी उपलब्धियों के चाकचिक्य में उसे अपेक्षित मात्रा में उभरने नहीं दिया। नये साहित्य ने अपनी प्रातिभ ऊर्जा का जो विस्फोट किया—उसके सौन्दर्य और शक्ति पर नाचनेवाली वृत्ति शुक्लजी की बन्द थी, वाजपेयीजी की मुक्त थी। छायावादी प्रतिभा कालिदास की परम्परा में थी, जो नटराज के सार्वभौम शृंगार की धारा का अन्तश्चेतना में संस्पर्श पाती थी और सर्वत्र उसका अनुभव करती थी। यह आकस्मिक नहीं था जो यह प्रतिभा और उससे परिचालित काव्यमोड़ शक्ति की अनुगूँज से आप्लावित था, यह शक्ति का काव्य था। भक्ति काव्य भी शक्ति का ही काव्य था। शक्ति राग का ही नामान्तर है। भक्ति साहित्य में अध्यात्म के संस्पर्श से ही 'राग' शक्ति थी और रीति काल में उससे विच्छिन्न होकर अ-शक्ति में परिणत हो गयी। छायावादी काव्यान्दोलन अनायास नवजागरण के प्रवाह में उससे जुड़ गया। यह सही है कि 'अध्यात्म' तर्क की जगह विश्वास और समर्पित श्रद्धा की अपेक्षा रखता है। पर भारतीय सन्दर्भ में 'अध्यात्म' तर्कविहीन नहीं है। यहाँ तो ऊर्ध्वबाहु घोषणा है—

"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः"

धर्म का मर्म वही पकड़ता है जो तर्क या चिन्तन से उसे सदा जोड़े रहता है। महादेवीजी इसीलिए कहती हैं कि उनका साहित्य, दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है। निष्कर्ष यह कि इलियट के अनुसार वाजपेयीजी कला की वर्तमान समस्याओं में रचनात्मक साहित्य के साक्ष्य पर निमग्न हुए और ऐसे मानदण्डों की बात की जो शुक्लजी से इनके काव्यप्रस्थान को पृथक् करते हैं। कला की वर्तमान समस्याओं में निमग्न होते हुए भी उन पर अतीत की मान्यताओं की प्रासंगिकता-प्रदर्शन की दिशा में अग्रसर हुए हैं। इलियट परम्परावादी थे और मानते थे कि परम्परा में व्यक्ति को विसर्जित हो जाना चाहिए, उसका अंग बन जाना चाहिए—स्वयं जब तक व्यक्ति माध्यम मात्र नहीं रह जाता तब तक काव्य की रचना की प्रक्रिया में प्रतिभा का अपरिमेय स्तर नहीं उमड़ता। 'प्रसाद'जी ने 'संकल्पात्मक

अनुभूति' की व्याख्या में इसी सत्य का उद्घाटन किया है और कहा है कि वह आत्मा की मनन शक्ति की एक असाधारण अवस्था है। यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित होती है, क्योंकि सत्य या श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतना या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।

शुक्लजी का बुद्धिवाद तथा काव्य की मनोमय कोष की सीमा—दोनों उक्त क्रमागत मानदण्ड की प्रासंगिकता का निषेध करते हैं। वाजपेयीजी समसामयिक साहित्य पर भी अतीत की मान्यताओं की प्रासंगिकता और सारवत्ता का संचार करते हैं, स्थायी कलात्मक मानदण्डों और मूल्यों का भी उसके सम्यक् ईक्षण में उपयोग करते हैं।

शुक्लजी की समीक्षा में 'हमारे यहाँ' का पर्याप्त प्रयोग है और चेतन स्तर पर भारतीय अवतारवादी संस्कृति और अनुरूप मूल्यों का समर्थन करते हुए शुक्लजी भी राष्ट्रीयता से जुड़े प्रतीत होते हैं, पर वाजपेयीजी अध्यात्म-संस्पर्श-शून्य चेतना को नहीं, अध्यात्मसंस्पर्शयुक्त चेतना और आत्मवादी निष्पत्तियों में आस्था रखते हैं और इस भूमि से अपनी राष्ट्रीय चेतना को जोड़े रहते हैं। इसीलिए राष्ट्रीय चेतना की दुर्दम्य अभिव्यक्तिवाले नये साहित्य को पाश्चात्य चेतना की नकल कहना वाजपेयीजी के गले नहीं उतरता। राष्ट्रीय अस्मिता का पक्षधर अराष्ट्रीय कैसे होगा ?

वाजपेयीजी साहित्य के विवेचन में जिन दो तथ्यों की स्वीकृति अपेक्षित मानते हैं, उनमें से एक यह है, कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और दूसरा यह कि राष्ट्रीय होकर ही कोई साहित्य सारवान् बन सकता है। उनकी दृष्टि में साहित्य अपने को अक्षुण्ण और सार्वभौम बना ही नहीं सकता। जब तक उसमें राष्ट्रीय और जातीय चेतना का सम्मूर्तन न हो, वे कहते हैं कि राष्ट्रीयता[13] या जातीयता से उनका आशय केवल जातीय बाह्यगुणों और विशेषताओं से नहीं है—केवल उन लक्षणों से नहीं है जिन्हें हम परम्परा के नाम पर दोहराते चले आते हैं, प्रत्युत राष्ट्र या जाति के उस वास्तविक, सक्रिय और गम्भीर जीवन से है जो एक-साथ मानवीय और विशिष्ट ऐतिहासिक अनुभवों तथा जातीय दृष्टि से मुक्त होने के कारण ही राष्ट्रीय हैं। वस्तुतः राष्ट्र की आत्मा, संस्कृति और संस्कृति का सम्बन्ध, जाति से है। प्रजाति विज्ञानियों ने बताया है कि जाति की आत्मा है—विशिष्ट संस्कारों का अयुतसिद्ध सन्धान। जिस जाति ने आनुवंशिकता के माध्यम से इसे बचा रखा है वह जाति संस्कृतिसम्पन्न है। अपनी जातीय अस्मिता के लिए यह आवश्यक है कि हमें 'अपनी मौलिक'[14] जातीय चेतना से संसर्ग रखना होगा ही, जो व्यक्तिगत या खण्डित वस्तु नहीं है—वरन् सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय और ऐतिहासिक है। इस चेतना से सम्पृक्त रहकर हम अपनी प्रकृति के अनुरूप कहीं से भी ग्राह्य का ग्रहण और त्याज्य का त्याग कर सकते हैं। वाजपेयीजी का पक्ष है कि

आधुनिकता भारत के लिए पश्चिम से नहीं, केवल आधुनिक भारत से ही नहीं, किन्तु समस्त भारतीय संस्कृति के पुनर्मूल्यांकन और आकलन के द्वारा ही अर्थ-ग्रहण कर सकती है। उन्होंने भारत, रूस और अमेरिका को केन्द्र में रखकर भारतीयता या भारतीय राष्ट्रीयता का बहुत ही उत्तम स्वरूप निर्वचन किया है। अमेरिका और भारत में यह साम्य है कि दोनों 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य' के उपासक हैं और रूस इसका विपक्षी—तथा अमेरिकन व्यक्तिस्वातन्त्र्य जहाँ भौतिकता की उपासना में अराजकता का पर्याय और तथाकथित मानवता का दम्भ भरता है—वहाँ भारत का अध्यात्म पर आधारित 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य' काफी गहरा अर्थ रखता है और उसका 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य' व्यक्ति की महत्ता का पक्षधर होता हुआ भी समष्टि तक आत्मविस्तार में सार्थकता समझता है। उसका 'व्यक्ति' अपने में विश्वात्मक तथा विश्वातीत तक होने की सम्भावना रखता है। इसीलिए यदि अमेरिका को रूस-भारत की दोस्ती अजीब लगती है तो भारत को रूस और अमेरिका का वैमनस्य आश्चर्यकर प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह कि वाजपेयीजी व्यक्ति की महत्ता भी स्वीकार करते हैं और समष्टि तक आत्मविस्तार में उसकी चरितार्थता भी। व्यक्ति में अपरिमेय सम्भावनाएँ उपलब्धि का रूप ग्रहण कर सकती हैं पर उसकी चरितार्थता और सार्थकता उनके सामाजीकरण में ही है। इस तरह भारतीय राष्ट्रीयता विश्व की अविरोधिनी बनकर अपनी सांस्कृतिक चेतना में विश्वहित की भावना रखती है। अध्यात्म ही इस व्यष्टि और समष्टि के अर्तविरोध को सामंजस्य में बदल सकता है, फलतः उसे जीवन और साहित्य से कैसे निकाला जा सकता है? छायावादी साहित्य सायास-अनायास इसी भूमि से जुड़ा हुआ है।

इसीलिए वाजपेयीजी उस सिद्धान्त से अपना वैषम्य रखते हैं जो आर्थिक आधार पर ही सुपरस्ट्रक्चर की बात करता है और कला की स्वायत्तता भंग कर उसे भौतिक प्रगति का अंग निरूपित करते हैं। वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं, मुझे मार्क्स की सामाजिक और साहित्यिक प्रतिपत्तियाँ स्वीकार नही हैं। यहाँ कवि-कल्पना वर्गीय घेरे को पार ही नहीं कर सकती।[15] उनकी धारणा है कि 'वर्गवादी समाज' और 'वर्गवादी साहित्य' के प्रति इतनी घृणा फैलाई जा चुकी है कि मार्क्सवादी विकासक्रम में मानवीय मूल्यों की सही-सही प्रतिष्ठा असम्भवप्राय हो गयी है। इस प्रकार जहाँ वे एक ओर मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति को अराष्ट्रीय बताकर विरोध करते हैं, वहीं वे प्रयोगवादी प्रस्थान में उभरते हुए समष्टि विरोधी व्यक्तिवाद और मनोविज्ञान की सहायता से मन की गुहाओं में बुद्धिहीन भावनावों के स्वतःचालित लेखन का भी विरोध करते हैं। वे कहते हैं,[16] "जहाँ एक ओर नया सामाजिक दर्शन हिन्दी साहित्य की विचारभूमि में प्रवेश कर रहा है, वहाँ दूसरी ओर मनोमय कोष—व्यक्तिमुखी और एकान्तिक मनोविज्ञान भी विश्लेषण के एक नये तत्वज्ञान का विज्ञापन करने लगा है। इस नये तत्वज्ञान की मूल प्रतिज्ञा यह है कि साहित्य और कलाओं का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तर्मन

से रहा करता है और साहित्य प्रत्येक अवस्था में इस अन्तर्मन की ही अभिव्यक्ति होता है। सामाजिक प्रगतियाँ और मानव विकास हमारे इस मूल या आदिम मानस को बदल देने में अक्षम है और यह आदिम मानस ही साहित्य तथा कलाओं का प्रेरक है। जो कुछ परिवर्तन साहित्य [17] या कलाओं के क्षेत्र में होते हैं—वे सब औपचारिक हैं और केवल हमारी अन्तश्चेतन वृत्ति को ही नाना छद्मवेशों में उपस्थित करते हैं।" स्पष्ट ही इस भूमिका पर हमारा समस्त राष्ट्रीय साहित्य, जिसके मूल में धर्म और अध्यात्म है, अस्वाभाविक कुण्ठा के ही परिणाम सिद्ध होंगे। वाजपेयीजी की धारणा है कि मनोवैज्ञानिक सारा विश्लेषण व्यक्तिमूलक है जबकि धर्म और दर्शन या अध्यात्म की विधियाँ और निर्देश पूर्णतः सार्वजनिक हैं। परिवेश से काटकर भक्ति साहित्य या भक्त का मानस-विश्लेषण अत्यन्त चिन्त्य हो जाता है। फलतः वाजपेयीजी का निष्कर्ष है[18]—"प्राचीन विकासोन्मुख धर्म और संस्कृति का विवेचन करने में वर्गवादी या भौतिक यथार्थवादी आलोचक भी उतने ही अनुदार हैं जितने ये आदिम मानस के प्रतिष्ठाता 'मनोविश्लेषण-वादी'। कदाचित् ये इस सत्य का उद्घोष करते हैं कि अतिवादी सीमा पर पहुँच-कर दो प्रतिपक्षी मिल जाते हैं। यदि यह बात है तो सत्य इन दोनों से दूर है और वह तटस्थ ऐतिहासिक और भावात्मक अनुशीलन द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है।"

वाजपेयीजी ने 'बीसवीं शताब्दी' के निबन्धों में कवि के लिए एक अनिवार्य आस्था का होना आवश्यक बताया है और दूसरी उच्चकोटि की नैतिक चेतना के सन्निवेश को। निराशा और कुत्सित मानस से श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। जब वाजपेयीजी साहित्य में नैतिक चेतना की बात करते हैं, तब शुक्लजी की नीतिमत्ता भी उनके ध्यान में रहती है। इसीलिए वे अपने को स्पष्ट करते हुए कहते हैं[19] "निश्चय ही यह नैतिक चेतना साहित्य में किसी नीतिवाद की सृष्टि नहीं करती। यह मानव सम्बन्धों को सम्पन्नता देती है और मानव आकांक्षाओं की परितृप्ति द्वारा ही साहित्य की रसात्मक अनुभूति को प्रांजल और परिपूर्ण बनाती है।" व्यष्टि और समष्टि के सामंजस्य पर दृष्टि टिकी होने के कारण ही वे स्वीकार करते हैं कि काव्य की रूपसत्ता जब तक उपयुक्त अभिव्यंजना या वाणी-विधान नहीं प्राप्त करती तब तक उसमें आह्लादकता का गुण नहीं आ पाता।···रूप योजना व्यक्तिगत होती है, वह कवि के वैयक्तिक मानस से सम्बन्धित है, पर वाणी की शक्ति इस रूपसत्ता को सार्वजनिक बनाती है और उसमें ऐसे तत्व की प्रतिष्ठा [20] करती है जो काव्य को सार्वजनिक आह्लाद का विषय बना देता है। उन्हें प्रसाद, पन्त और निराला में वह असाधारण ध्वन्यात्मक शक्ति लक्षित हुई है।

इस प्रकार वाजपेयीजी कला की वर्तमान समस्याओं में निमग्न होते हुए भी उन समस्याओं पर अतीत की मान्यताओं की प्रासंगिकता स्पष्ट करते हैं—परम्परा में आस्था व्यक्त करते हैं, उसे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक निरूपित

करते हैं—इसी में अपनी राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा और तदनुरूप स्वस्थ विकास की सम्भावना मानते हैं। अन्यथा साहित्य की सीमा को मनोमय कोष तक ही मान लें अथवा मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणवादियों की एकांगिता को ही स्वीकार कर लें और भारतीय साहित्य का मूल्यांकन करने निकलें तो इस घेरे से सूर और तुलसी जैसी महान प्रतिभाएँ सदा बाहर ही रह जायेंगी। उनका मूल्यांकन सही नहीं हो पायेगा। समय, समाज या सिद्धान्त विशेष की चौहद्दी में न रहकर जो कवि उसका अतिक्रमण कर जाते हैं वे ही राष्ट्रीय सम्पत्ति बनते हैं। मनोविश्लेषण और मार्क्सवादी समाजदर्शन के कट्टर अनुयायी भी प्रतिभा की असीम और अनिर्देश्य सम्भावनाओं को स्वीकार करते हैं और यह बात वाजपेयीजी के पक्ष में जाती है। आरम्भ में वे भारतीय प्राचीन मानदण्डों की सर्जनात्मक साहित्य की समीक्षा में अपर्याप्तता घोषित कर रहे थे—परन्तु बाद में चैन्तनिक मन्थन से समुचित परिष्कार के साथ रस-सिद्धान्त को स्थायी मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया और अपने ढंग से उसका अपनी समीक्षाओं में संचार भी किया। इस प्रकार वे सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय स्तर के समीक्षक हैं।

सन्दर्भ

1. टी. एस. इलियट : ट्रेडिशन एण्ड इण्डिविजुअल टेलेण्ट, सेलेक्टेड एसेज।
2. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग 2, पृष्ठ 248
3. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ. 16
4. वही, पृ. 17
5. वही, पृ. 18
6. वही, पृ. 18-19
7. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग-2, पृ. 46
8. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ. 22
9. वही, पृ. 23
10. वही, पृ. 34
11. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृ. 434
12. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, 'विज्ञप्ति' से
13. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : राष्ट्रीय साहित्य : निबन्ध, पृ. 1
14. वही, पृ. 2
15. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : सर्जन और समीक्षा, पृ. 82
16. वही, पृ. 157

17-18. वही, पृ. 158

19-20. वही, पृ. 93

आचार्य वाजपेयी का साहित्य प्रस्थान

जिस प्रकार शुक्लजी के विषय में कहा जाता है कि उन्हें काव्य या साहित्य का परिणत प्रतिमान गोस्वामी तुलसीदासजी के साहित्यानुशीलन से प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार वाजपेयीजी के विषय में भी कहा जा सकता है कि उन्होंने भी काव्य-स्वरूपविषयक धारणा का निर्धारण स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा की परिणत रचनाओं से प्राप्त किया, यद्यपि वाजपेयीजी साहित्य में 'वाद' के विरोधी थे। इन रचनाओं में प्रकृत मानव अनुभूति थी और था नैसर्गिक कल्पना के सहारे सौन्दर्यमय चित्र विधान, जिससे कि मानव मात्र (पाठक सहृदय मात्र) में अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य संवेदनात्मक प्रतिबिम्ब व्यक्त होता है। भारतीय परिवेश की ये स्वच्छन्दतावादी परिणत रचनाएँ जातीय सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय गन्ध से आपूरित थीं। निष्कर्ष यह कि उन्मिषित कवित्व की काव्यात्मक परिणति में जिन तत्वों की सत्ता वाजपेयीजी देखना चाहते हैं, वे स्वच्छन्दतावादी काव्यरचना और चिन्तन में पुष्कल रूप से वर्तमान हैं। काव्य का मूल उपादान जो प्रकृत मानव अनुभूति है, वह सामान्य अनुभूति से, व्यावहारिक धरातल की संकीर्ण अनुभूति से भिन्न है। अन्यविध अनुभूतियों से पृथक् करने के लिए इसे सर्जनात्मक अनुभूति भी कहा जाता है।

सर्जनात्मक अनुभूति की सत्ता सभी मानते हैं पर उसकी व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से करते हैं। शुक्लजी इस अनुभूति को रसात्मक अनुभूति के रूप में परिभाषित करते हैं और बताते हैं कि व्यक्ति हृदय के लोकहृदय में लीन होने की दशा ही रसदशा है। इस प्रकार वे जिस रसात्मकता को काव्यानुभूति के रूप में रखना चाहते हैं, वह एक मानवीय मनोभूमि है, जो काव्य की भाँति व्यावहारिक धरातल पर भी सम्भव होती है। यह मन की एक प्रकार की सात्विक या नैतिक मनोमय भूमि है। काव्य या लोक व्यवहार—सर्वत्र, जहाँ भी हम व्यक्तिगत संकीर्ण भूमि से ऊपर उठकर लोकहृदय में विलयन का अनुभव करते हैं, वहाँ रसात्मकता है। जहाँ रसात्मकता है—वहीं सौन्दर्य है, चाहे लोक हो या काव्य। इस प्रकार शुक्लजी की रसात्मकता और सौन्दर्यभावना नैतिक भावना का पर्याय बन जाती है। उन्हें मानवीय या लोकमंगल की भावना से प्रेरित कार्यकलाप में

ही सौन्दर्य दिखेगा—राम के व्यापार ही सुन्दर प्रतीत होंगे—रावण के व्यापार नहीं। शुक्लजी की दृष्टि में रावण की सक्रियता[1] का योगदान काव्य की भूमि पर भी सौन्दर्यबोध में नहीं है। काव्यानुभूति के अखण्ड धरातल पर यह नैतिक-अनैतिक का विभाजन वाजपेयीजी को अभीष्ट नहीं है। यहीं काव्यानुभूति के सम्बन्ध में वाजपेयीजी शुक्लजी से अपना प्रस्थान पृथक् कर लेते हैं। उनका कहना है कि काव्यगत सौन्दर्य को नैतिक-अनैतिक के खानों में बाँटकर नहीं देखना चाहिए, बल्कि काव्य की भूमिका में उसे इससे ऊपर उठकर समग्रता में सौन्दर्य-बोध करना चाहिए। शुक्लजी की काव्यानुभूति सात्विक है, वाजपेयीजी की काव्यानुभूति प्रकृत मानव अनुभूति है। काव्य निःसन्देह व्यवहार पर आश्रित है, पर व्यवहार पर आश्रित होने के बावजूद उसकी अपनी स्वायत्त सत्ता है—अतः वहाँ की शब्दावली का प्रयोग, यहाँ की स्थिति में विभ्रम पैदा कर देता है। यह बात नहीं है कि वाजपेयीजी की प्रकृत मानव अनुभूति असात्विक या अनैतिक है, नहीं, कतई नहीं, पर वे इस शब्दावली का यहाँ प्रयोग ही नहीं करना चाहते। वे केवल समग्रता-द्योतित-सौन्दर्य की समरस और अखण्ड छवि में नैतिकता का विसंष्ठुल समुद्रेक असमरस उभार अनंगीकार करते हैं। वे इस स्थल के लिए केवल 'सौन्दर्यानुभूति' का प्रयोग करना चाहते हैं।

जब वाजपेयीजी प्रायोगिक समीक्षा का प्रथम प्रस्थान बिन्दु साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष के आकलन को (Analysis of the poetic spirit) मानते हैं, तब उनके अनुसार कलात्मक उत्कर्ष का सर्वग्राह्य प्रतिमान होता है—सौन्दर्य। उनके अनुसार इस सौन्दर्य की परख किन्हीं निश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती। शुक्लजी से, इसीलिए, अपने प्रस्थान को पृथक् करते हुए वाजपेयीजी ने स्पष्ट कहा है—"साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किन्तु शुक्लजी ने जिसे बार-बार भुला दिया है—यह है कि हम किसी पूर्वनिश्चित दार्शनिक या साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर कला की परख नहीं कर सकते।"

अनुभूति या काव्यानुभूति के स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने माना है कि अनुभूति या भावना ही काव्य का प्रेरक तत्त्व है (प्रेरक या मूल उपादान ?), उसकी मूलभूत सत्ता है। कल्पना अनुभूति का क्रियाशील रूप है। कल्पना का मूल स्रोत अनुभूति है और उसकी परिणति है काव्य की रूपात्मक अभिव्यंजना। वह वस्तु जो कल्पना के विविध अंगों और मानसछवियों का नियमन और एकान्वयन करती है, अनुभूति कहलाती है। इस भावनानुभूति में मानव व्यक्तित्व और मानवता ऐसे श्रेष्ठ उपादान होते हैं जिनसे काव्य में मूल्य और महत्त्व की प्रतिष्ठा होती है।

अनुभूति के संघटक तत्व हैं, उनके अनुसार—1. अनुभवगोचर विषय, 2. विषयी या आत्मा, 3. विषयी और विषय के संघात से उत्पन्न संवेदन। इन संघटक तत्त्वों के कारण अनुभूति के स्वरूप और वैशिष्ट्य में असंख्य भेदों का

होना स्वाभाविक है, परन्तु काव्यात्मक अनुभूति अत्यन्त उच्च स्तर का अनुभव है, अतः वह समरस और समरूप भी हुआ करती है। उसमें देश और काल के अनुरूप गतिशीलता का तत्त्व भी हुआ करता है और मानवात्मा की विकासावस्था के अनुसार उसमें व्यापकता और वैशिष्ट्य की भी मात्रा रहती है।

वाजपेयीजी अपने वैचारिक क्रम में धीरे-धीरे भारतीय रस-सिद्धान्त की ओर आकृष्ट होते गये। इसीलिए उन्होंने रससिद्धान्त की प्रक्रिया का साक्ष्य देते हुए यह कहा है कि साहित्य मात्र के मूल में अनुभूति या भावना ही कार्य करती है। काव्य में प्रत्येक पात्र की अनुभूति में रचयिता की ही अनुभूति काम करती रहती है, अतः काव्य में समग्र अनुभूति में सौन्दर्यबोध या रसबोध होता रहता है, नैतिक-अनैतिक के व्यावहारिक संस्कार से उसका विभाजन कर, केवल नैतिक अनुभूति में नहीं। उनकी दृष्टि में काव्य की सम्पूर्ण विविधता में एकात्म्य स्थापित करनेवाली यही शक्ति है। "सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है, वह स्थायीभाव रचयिता की अनुभूति से उद्‌गम प्राप्त करता है।"

वाजपेयीजी ने अनुभूति के स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रसिद्ध भाववादी चिन्तक क्रोचे तथा रसवादी भारतीय आचार्यों का साक्ष्य देते हुए कहा है कि अनुभूति—काव्यानुभूति—समरस और समरूप होती है, वह किसी प्रकार का, देशकाल-व्यक्ति का भेद नहीं जानती, वह सार्वजनीन और सार्वभौम होती है। क्रोचे के स्वर में स्वर मिलाते हुए वे कहते हैं कि वह अनुभूति, अनुभूति ही नहीं है जो अभिव्यक्ति न हो और वह अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति नहीं है, जो काव्य न हो। भारतीय आचार्यों ने भी दार्शनिक स्तर पर यह सिद्ध किया है कि रसात्मक अनुभूति अखण्ड, निरवयव तथा विगलित वेद्यान्तर है।

भाववादी या स्वच्छन्दतावादी चिन्तकों के साथ वाजपेयीजी यह स्वीकार करते हैं कि साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, वह स्वायत्त है, फिर भी वे मानते हैं कि—"यह सत्ता जीवनसापेक्ष है। जीवन निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवनसापेक्ष कला के लिए कला सिद्धान्त है।" ऐसा कहते हुए वे पश्चिमी भाववादी कलाचिन्तकों की जीवन निरपेक्ष अतिवादी सीमाओं से अपने को मुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार एक ओर वे इस रसात्मक काव्यानुभूति को जीवनसापेक्ष कहकर जहाँ पश्चिमी भाववादी अतियों से अपने को मुक्त करते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर जीवन और काव्य के मध्यकालीन बँधे ढाँचे से उसे उन्मुक्त कर 'प्रबन्ध' से 'प्रगीत' के सौन्दर्यमय धरातल पर उतार लाते हैं। जहाँ शुक्लजी प्रबन्ध में रस का सर्वोत्तम परिपाक मानते थे, वहाँ वाजपेयीजी प्रगीत में ही रस की अपेक्षाकृत निर्बन्ध स्थिति घोषित करते हैं। उन्हें प्रबन्धातवर्ती रस में छिलके और रेशों की सम्भावना रहती है, पर प्रगीत में इन सब अनावश्यक बाधकों से रहित रस में ही, रस की स्थिति मानते हैं।

समीक्षक कभी-कभी मूल्यांकन भी करने लगता है और मूल्यांकन की बात

उठते ही उसकी दृष्टि काव्येतर जीवनमूल्यों की ओर चली जाती है। वाजपेयीजी महादेवी के काव्य के सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हैं --"साहित्यिक रचना का एकदम स्वतन्त्र मूल्य है अथवा उसके सामाजिक सम्पर्क और प्रभाव में है? और यदि साहित्य सामाजिक और वास्तविक जीवनस्रोत से अपना रस ग्रहण करना छोड़ देता है तब केवल कल्पना या वैयक्तिक संवेदना की भूमि पर की गयी रचना का साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य किस प्रकार आँका जाय?" निष्कर्ष यह कि कृति के मूल्यांकन में कलात्मक सौन्दर्य के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य भी हैं। वाजपेयीजी अपने शुद्ध समीक्षक रूप में काव्य की एक ही सीमा और एक ही प्रतिमान और मूल्य की घोषणा करते हैं और वह है—सौन्दर्य, पर मूल्यांकनकर्ता के रूप में उन्हें कुछ और भी सोचना पड़ा है।

वाजपेयीजी के उक्त प्रश्न के साक्ष्य पर कुछ लोग उनके समीक्षक व्यक्तित्व के विकसित होने की बात सोचते हैं। यदि समीक्षक में मूल्यांकन भी निहित हो, तो सोचा जा सकता है। सोचनेवालों ने 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के बाद की समीक्षात्मक कृतियों में उनके विकसित समीक्षक का दर्शन किया है—जहाँ उनकी दृष्टि काव्यमूल्य के साथ-साथ काव्येतर मूल्यों की भी अनिवार्यता पर चली गयी है।

वास्तव में स्वच्छन्दतावादी समीक्षक वाजपेयीजी की 'दृष्टि' में साहित्य का सर्वातिशायी और एकमात्र प्रतिमान 'सौन्दर्य' ही है, पर जैसे रसवादी भारतीय आचार्य 'रस' को काव्य का सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान मानते हुए भी उसके व्यंजक उपकरणों में 'औचित्य' का निर्वाह अनिवार्य मानते थे, वैसे ही वाजपेयीजी भी मानते हैं कि कलाकार का मानस सौन्दर्य की व्यञ्जना के लिए 'समुन्नत' होना चाहिए। यह समुन्नति सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों, वैचारिक रश्मियों, जीवन के समुचित पक्षों से सम्वलित होने पर ही सम्भव होती है। रसवादी आचार्यों ने भी 'औचित्य' को रस का पराउपनिषद् कहा था और कहा था, वह सामाजिकता का ही दूसरा नाम है। सौन्दर्यदर्शी कवि की मानस अभिव्यञ्जना में ये सब तत्त्व गल-पचकर समरस हो गये रहते हैं, पृथक् से अपनी उद्रिक्तता प्रदर्शित नहीं करते। वाजपेयीजी ने 'नयी समीक्षा' शीर्षक लेख में शुक्ल प्रस्थान से स्वयं के प्रस्थान का पार्थक्य स्पष्ट करते हुए कहा है—"भारतीय रस सिद्धान्त को उन्होंने मुख्य समीक्षा सिद्धान्त माना, किन्तु रस के आनन्द पक्ष पर, उसके संवेदनात्मक पक्ष पर, उनकी निगाह नहीं गयी। साहित्य समीक्षा को सैद्धान्तिक आधार देनेवाले प्रथम समीक्षक शुक्लजी ही थे, किन्तु रस सम्बन्धी उनकी व्याख्या भावव्यञ्जना या अनुभूति पर आश्रित न होकर एक नैतिक और लोकवादी आधार का अवलम्बन लेती है। शुक्लजी की प्रायोगिक समीक्षाओं में उनका यह मन्तव्य बहुत स्पष्ट है। यदि नैतिकता की अपेक्षा संवेदना पक्ष पर अधिक बल होता तो भावनामय सूर के प्रति शुक्लजी वह मत न व्यक्त करते, जो कर गये हैं। उन्हें गोपियों का विरह बैठे-ठाले का धन्धा न लगता। वाजपेयीजी की

दृष्टि में—"काव्य की रसात्मकता का अर्थ है—उसकी लोकोत्तर भावनामयता। रस का आनन्द, अलौकिक आनन्द इसी अर्थ में है कि वह नैतिक और व्यावहारिक भावभूमियों को आत्मसात् कर भी उनके परे पहुँच जाता है।" इस परे पहुँच जानेवाले पर्यवसित रसात्मकता या 'सौन्दर्य' के अभिव्यञ्जक जागतिक उपकरण को, 'उनकी काव्यदृष्टि' दो भागों में बाँटती है—सुन्दर और कुरूप। शुक्लजी कहते हैं—"सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्यक्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखायी जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है। दृष्टिभेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भावबन्धन से मोक्ष आदि की ओर रहती है, पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती, वह उधर देखता है जिधर सौन्दर्य दिखायी पड़ता है।" (कविता क्या है?)। "काव्य में कुरूपता का अवस्थान सौन्दर्य की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए" (वही)। इस प्रकार यद्यपि इन निरूपणों में शुक्लजी कुछ सचेत हैं, फिर भी शुक्लजी रसानुभूति में कोटियाँ (तीन) स्वीकार करते हैं, उसकी सर्वथा आनन्दमयता अस्वीकार करते हैं। साथ ही स्थापना करते हैं कि रसानुभूति व्यवहार दशा और व्यवहारेतर काव्यनाट्य—सर्वत्र सम्भव है, क्योंकि वह एक नैतिक और सात्विक मानवीय मनोदशा ही है। इसीलिए शुक्लजी रसात्मकता को साध्य नहीं, साधन ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में मनोवृत्ति के रसात्मक होने का अर्थ है, रागात्मक सत्ता का विस्तार, लोकहृदय का स्पर्श अथवा उससे व्यक्तिसत्ता का सामरस्य। इस मनःस्थिति से ही उनकी दृष्टि में मानव-मानस में निहित मानवीय सम्भावना चरितार्थ हो सकता है और मनुष्य अपना सर्वोत्तम मूल्य (मानवता की उपलब्धि) पा सकता है। विपरीत इन मान्यताओं के वाजपेयीजी 'बुद्धिवाद को अधूरी दृष्टि' और 'वैदिक दर्शन' को समग्र जीवन-दृष्टि मानते हैं—इसीलिए वे काव्यानुभूति को सर्वथा आनन्दमय, अखण्ड और साध्य बताते हैं।

जिसने अन्तःसत्ता की तदाकार परिणति को सौन्दर्यानुभूति कहा है, उसने अभिनवगुप्त के 'तन्मयीभवन' का रूपान्तर अनायास किया है और ये हैं—शुक्लजी। तन्मयीभवन 'सम्वाद' के नाम से जाना जाता है। जो कृति जितने ही व्यापक देश-कालान्तवर्ती व्यक्ति के मनोजगत् में 'सम्वाद' जगा पाती है, वह उतनी ही महान् मानी जाती है। कभी-कभी पाठक या श्रोता जो Hurra, Hurra कहकर चिल्ला उठते हैं—वह 'सम्वाद' के ही कारण। इस 'सम्वाद' में 'क्रमागत' और 'अर्जित' उभयविध संस्कार से सारूप्य होना चाहिए। प्राचीन आचार्यों ने इन्हें ही 'तदानीन्तन' और 'इदानीन्तन' वासना कहा है। इस मनोजगत् के संस्कार असामाजिक या व्यक्तिगत भी हो सकते हैं और समाज तथा राष्ट्रानुमोदित

भी। साहित्य चूँकि सामाजिक कृति है, अतः उसका मनोजगत् के समाजानुमोदित तथा राष्ट्रानुमोदित संस्कार से ही सम्वाद होता है और होना भी चाहिए। यही सम्वाद सौन्दर्यानुभूति है, जो रसात्मक परिणति लेती है। वाजपेयीजी इसी चिन्ताधारा के अनुरूप काव्य को जीवन और जगत् से, समाज और राष्ट्र से सम्बद्ध देखना चाहते हैं। भारत की राष्ट्रीयता इतनी विशाल और व्यापक है कि उससे अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध हो ही नहीं सकता। सदातन और चिरन्तन से अविरोधी अद्यतन का चित्रण ही सिद्ध कवि की पहचान है। यही कारण है कि वाजपेयीजी उस काव्यधारा को अविसम्वादी मानकर अग्राह्य घोषित करते हैं, जो अराष्ट्रीय तथा असामाजिक अथवा नितान्त वैयक्तिक होती है। ऐसी रचनाएँ पाठक को परेशान कर सकती हैं, परन्तु 'सम्वाद', 'तन्मयीभवन' अथवा 'सौन्दर्य-संवेदन' के समुन्नत धरातल पर पाठक को प्रतिष्ठित नहीं कर सकतीं।

एक बात और। काव्य का अपना स्वायत्त मूल्य यही 'संवाद', 'तन्मयीभवन' या 'सौन्दर्य-संवेदन' है और इसकी प्रकाशक सामग्री में काव्येतर मूल्य है—सामाजिक या अन्य राष्ट्रानुमोदित मानव मूल्य। समीक्षक की समीक्षण प्रक्रिया में यदि काव्यमूल्य हावी रहा और अपने तारतमिक अनुपात में काव्येतर मूल्य विवेचित होता रहा, तब तो वह सन्तुलित समीक्षक की भूमिका निभा सकता है—अन्यथा यदि उसकी दृष्टि काव्येतर मूल्यों पर ही केन्द्रित हो गयी, तो वह समीक्षक नहीं, उससे कुछ भिन्न अर्थात् मूल्यांकनकर्त्ता ही रह जायेगा।

काव्यमूल्य के साथ-साथ ज्यों-ज्यों काव्येतर मूल्यों की ओर से वाजपेयीजी सचेत होते गये त्यों-त्यों रोमैण्टिक समीक्षक होते हुए भी उन्होंने अपना प्रस्थान उन कलावादियों और सौन्दर्यवादियों से पृथक् कर लिया, जो कला को जीवन और समाज से धीरे-धीरे काटकर अलग हो जाते हैं। साथ ही वे उन मार्क्सवादी चिन्तकों से भी अपने को पृथक् कर लेते हैं जो सामाजिक विकास क्रम में आर्थिक व्यवस्था को मूलाधार मानकर साहित्य तथा अन्य उपकरणों को उसका अनुवर्ती सिद्ध करते हैं, साथ ही जो काव्य और कलाओं को समय-विशेष की वर्गीय स्थिति में बाँधकर अवमूल्यित करते हैं।

वाजपेयीजी सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का काव्यसामग्री में होना समुचित सौन्दर्यबोध के लिए अनिवार्य मानते हैं—इसीलिए मार्क्सवादी साहित्यिक दृष्टिकोण से अपने दृष्टिकोण का पार्थक्य निरूपित करते हुए उन्होंने कहा है—"राष्ट्र और जातियाँ किसी मतवाद के बल पर खड़ी नहीं होतीं, वे खड़ी होती हैं अपनी आन्तरिक चेतना, सहानुभूति और प्रयत्नों के बल पर।·····यह समझना निरी भ्रान्ति है कि मार्क्सदर्शन या मार्क्सीय विचारपद्धति हमें जीवन की कोई अनुपम दृष्टि देती है और सत्य का सीधा साक्षात्कार कराती है। भारतीय तत्वचिन्तन और विचारविधियों को अपसारित कर एक नयी पद्धति को प्रतिष्ठित करना भारतीय जनगण की सांस्कृतिक परम्परा का अपमान करना

भी है। आज हमारे साहित्यिक मानदण्ड इसी खूँटी से बँधे होने के कारण अतिशय सीमित और संकीर्ण हो उठे हैं।····· निश्चय ही हमारी यह प्रतिक्रिया हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत चलनेवाले प्रगतिवादी आन्दोलन के प्रति है।" वाजपेयीजी इस दर्शन के अभारतीय स्वर से असहमत रहकर भी यह स्वीकार करते हैं कि "इस आन्दोलन ने हमें दो उपादेय समझें भी दी हैं—एक यह कि काव्य साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान् है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितनी दूर होगा, उतना ही वह काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा।"

काव्येतर सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के अनुरूप उभरनेवाले साहित्यिक सौन्दर्य पर बल देने के कारण ही वाजपेयीजी उस काव्यान्दोलन का भी स्वागत न कर सके जो कभी-कभी नितान्त वैयक्तिक होकर प्रयोग परीक्षण के क्रम में चल रही वैज्ञानिक मान्यताओं में अपनी 'दृष्टि' बाँधकर मन की अतल गहराइयों में निहित स्वप्न-सत्य को साहित्यिक अभिव्यक्ति समझ रहा था, और उसे टेढ़ी-सीधी लकीरों से व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा था। साथ ही 'धर्मयुग' में प्रकाशित उनके अन्तिम दौर के साहित्यिक लेख और उसमें निहित प्रशंसा के स्वर यह स्पष्ट संकेत देते हैं कि ये ही सर्जनशील प्रतिभाएँ जब विद्रोह के उफान से मुक्त हो गयीं और 'परम्परा' के अनुरूप 'प्रयोग' से भारतीय राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना साहित्यिक अभिव्यक्ति करने लगी या जब-जब और जहाँ-जहाँ करने लगी, तब वाजपेयीजी ने उन्हें मान्यता भी दी।

उक्त पंक्तियों के साक्ष्य पर **वाजपेयी-प्रस्थान** के यत्किञ्चित् स्पष्टीकरण के अनन्तर सम्प्रति उनका 'रस विषयक दृष्टिकोण' अपने स्पष्टीकरण के लिए आमन्त्रित है। वाजपेयीजी की कृतियों से जो रसविषयक लेख या उद्धरण यहाँ एकत्र किये गये हैं—उनसे स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि धीरे-धीरे वाजपेयीजी की आस्था 'रस सिद्धान्त' के प्रति पर्याप्त सुदृढ़ हो गयी और इसके बीज उनके राष्ट्रीय व्यक्तित्व में पहले से ही विद्यमान थे।

वाजपेयीजी अपना 'प्रस्थान' लेकर जिस प्रवाह में आ खड़े हुए, वह रचना की दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी प्रवाह था। रचना और आलोचना समानान्तर रूप से प्रवाहित होती है, अतः रचना के अनुरूप रचना के भीतर से ऐसे मानदण्ड के उभारने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो तब तक के साहित्य पर अपना संचार करा सकने में समर्थ हो। भारतीय साहित्यिक चेतना के साथ तादात्म्यापन्न होकर उन्होंने बड़ी गहराई से 'रस सिद्धान्त' की सम्भावनाओं का साक्षात्कार किया और अनुभव किया कि समानान्तर प्रवाहित रचना-धारा उस मानदण्ड पर विश्लेषित की जा सकती है। उन्होंने अनुभव किया कि जब क्रियामात्र का प्रेरक 'भाव' या 'मनोवेग' है तब 'काव्यक्रिया' इससे शून्य कैसे हो सकती है, फिर

रोमैण्टिक भावधारा के सन्दर्भ में अदम्य भावधारा के स्वतःस्फूर्त प्रवाह में कवित्व का दर्शन करनेवाली अन्तश्चेतना काव्य में भावाधृत रससिद्धान्त का समर्थन न करेगी तो करेगी क्या ? यह उसकी अनिवार्यता भी थी।

पर जहाँ रस सिद्धान्त के समर्थन की एक ओर अनिवार्यता और सहज सम्भावना थी, वहीं दूसरी ओर उसके परिष्कार और विस्तार की (उसकी सम्भावनाओं के भीतर से) आवश्यकता भी थी। यह स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन भारतीयता या राष्ट्रीयता या भारतीय राष्ट्रीय परम्परा का विरोधी नहीं था, विपरीत इसके 'नवजागरण' में जो भारतीय आध्यात्मिक प्रेरणा आत्मस्थानीय थी, उसे इस आन्दोलन ने भी शिरसा स्वीकार किया था। इसका विरोध था उस रूढ़ निर्मोक या केंचुल से जो इस पर इस प्रकार हावी हो गया था कि उसमें न केवल रस सिद्धान्त की मूल धारणा तिरोहित हो गयी थी, वरन् उसके तिरोहित होने से उसकी सम्भावनाएँ भी आच्छन्न हो गयी थीं। नवजागरण के आन्दोलन ने मध्यकालीन रूढ़ियों से राष्ट्रीय चेतना की ताजगी और उसकी सर्जनशील सम्भावनाओं का साक्षात्कार कराया।

बात यह है कि मध्यकाल का रीतिवादी प्रवाह 'प्रतिभा' की जगह 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' पर बल देता था। 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' पूर्वनिर्धारित प्रतिमानों से सम्बन्ध स्थिर कर लेते हैं। रीतिकाल की अधिकांश विशिष्ट व्युत्पन्न प्रतिभाएँ दरबारों में सिमट गयी थीं। इन सब कारणों से साहित्य का प्रवाह प्रचुर मात्रा में दरबारी मानसिकता से जुड़ गया था, रियाज का प्रदर्शन करने में लग गया था, तेली के बैल के मानिन्द एक ही परिधि में घूमने लग गया था। समाज के एक बड़े भाग की मानसिकता उससे कट गयी थी। इस प्रकार यह भावधारा आवृत होकर निर्जीव होने लगी थी। इसलिए इस ढाँचे का ढला 'रसवाद' खुली सामाजिकता, जीवन और जगत से सम्बद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त पड़ने लगा था। साथ ही इस समय तक साहित्य पद्यात्मक प्रचुर था, जिसमें स्वभावतः आपेक्षिक रूप से वह वर्तमान से पीछे रहा जाता है। वाजपेयीजी तक गद्यसाहित्य ने अपनी पर्याप्त समृद्धि प्राप्त कर ली थी। गद्य-साहित्य में व्यक्त आदर्श की जगह गद्य में 'वर्तमान' यथार्थ अधिक मुखर होता है और कथा साहित्य के माध्यम से अधिक मुखर भी होने लग गया था। रस-सिद्धान्त का इस साहित्य पर किस प्रकार संचार किया जाय, इसकी चिन्ता शुक्लजी को ही हो गयी थी। काव्यरूप की दृष्टि से 'प्रबन्ध' के पक्षधर शुक्लजी की अपेक्षा 'प्रगीत' के पक्षधर वाजपेयीजी को रससिद्धान्त के संचार की यहाँ भी चिन्ता थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने प्रतिष्ठापित किया कि प्रबन्ध की अपेक्षा प्रगीत में रस धारा का, छिलका रेशा रहित आस्वाद होता है। सबकुछ कहने का अभिप्राय यह कि क्रमागत तथा रीतिकालीन रूढ़ियों के घेरे में आकार ग्रहण करनेवाले रससिद्धान्त पर पुनः विचार करने की आवश्यकता विवेचकों को महसूस हुई। एक तो जैसा कि ऊपर कहा गया कि पुरातन काव्यरूपों की अपेक्षा

नयी अनुभूति से नये काव्यरूप फूट रहे थे। दूसरे यह कि काव्यगत वस्तुवैविध्य का क्षेत्र बढ़ता जा रहा था। तीसरे यह कि भावोत्तेजक सामग्री के ग्रहण की दृष्टि भी बदलती जा रही थी। चौथे, आदर्श एवं जीवन मूल्यों में तेजी से परिवर्तन होता जा रहा था। परिवर्तन पहले भी होता था, परिवर्तन अब भी हो रहा था, हो रहा है, पर पहले का परिवर्तन इतनी धीमी गति से होता था कि वह असंलक्ष्य क्रम था, आधुनिककाल का परिवर्तन छलाँग मारता हुआ आ रहा है। इसलिए इसे 'पुरातन' से काटकर कभी-कभी 'नया' कहने का उपक्रम भी हुआ है। इस 'विच्छेद'वादी प्रवृत्ति ने साहित्य को काफी नुकसान पहुँचाया है। पाँचवें, साहित्य का सम्बन्ध जिस सामाजिक चेतना से है—वह भी बदल रही थी। ये सब बातें 'रस' के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन की माँग कर रही थीं अथवा उसकी अपर्याप्तता को चुनौती दे रही थीं। यही कारण है कि शुक्लजी तथा वाजपेयीजी रस के स्वरूप को व्यापक रूप में परिभाषित कर रहे थे। शुक्लजी ने 'रस' को मानवीय मनोवृत्ति का पर्याय बना दिया और इस बात पर बल दिया कि यदि काव्य मानव की कृति है तो उसकी प्रेरक धुरी मानवीयता होनी चाहिए। वाजपेयीजी ने अपनी विवेचनाओं में साफ कहा है कि **सौन्दर्य संवेदनशील 'समुन्नत' मानस से प्रसूत काव्यास्वाद मात्र रस है**। जब वे झुँझलाकर कहते हैं—"आखिर काव्य का रस है क्या ? वह मानव-मात्र की आनन्दात्मक प्रतिक्रिया है, जो श्रेष्ठ साहित्य को पढ़कर उसे उपलब्ध होती है···रस तो काव्यानुभूति का दूसरा नाम है···सम्पूर्ण काव्य किसी रस (रचयिता की अनुभूति) को अभिव्यक्त करता है और वह रस किसी स्थायी भाव पर आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।" वाजपेयीजी नाट्यरूप को ध्यान में रखकर पश्चिम के 'कथानक'वाद और 'चरित्रवाद' का विरोध करते हुए कहते हैं—"आज भी भारतीय नाट्यधारणा ही अधिक तात्विक और तथ्यपूर्ण कही जा सकती है। नाटक में चरित्रचित्रण और स्वभावनिरूपण अन्ततः साधन ही हैं, साध्य नहीं। मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य की सूक्ष्म विशेषताओं का चित्रण कितना ही मार्मिक क्यों न हो, काव्य में वस्तुचित्र मात्र है। वह काव्योपयोगी तभी होगा, जब कवि या नाटककार की मूलवर्ती भावसत्ता या कला का अंग बनकर आये, काव्य में अन्तर्भुक्त हो जाय। मानवप्रकृति की **यथार्थवादी** खोज अन्ततः विज्ञान का विषय है। पश्चिमी विचारक भले ही उसे काव्य के लिए सबकुछ मान लें, परन्तु वह सारी मार्मिकता और वैज्ञानिकता, कविकल्पना (जो अनुभूति या काव्यानुभूति का क्रियात्मक रूप है) का समुचित अंग न होने पर निरी निरर्थक भी हो सकती है—इस अनिवार्य तथ्य को भी स्वीकार करना होगा।" अन्त में यही सिद्ध होता है कि कवि-कल्पना और काव्यात्मक अनुभूति ही सब कुछ है और वस्तु तथा चरित्र-चित्रण आदि उसके उपकरण या प्रसाधन मात्र हैं। यदि कवि की कल्पना पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं लगाया जा सकता, तो वस्तु और चरित्र की कोई सुनिश्चित रूपरेखा भी

निर्धारित नहीं की जा सकती। अतः वस्तु और चरित्र की अपेक्षा रस अथवा भावानुभूति को प्रमुख तत्व मानना साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा संगत है"—(जयशंकर प्रसाद)। इतना बड़ा उद्धरण देकर मैं यहाँ यह कहना चाहता हूँ कि वाजपेयीजी ने इस वक्तव्य के माध्यम से समस्त अद्यतन नयी यथार्थपरक चेतना, विविध काव्यरूप, कवि-मानसगत रसेतर अन्य कृतियों की असाहित्यिकता सबका ध्यान रखते हुए बड़े जोरदार ढंग से स्थापना दी कि काव्यानुभूति, भावात्मक सत्ता ही रसानुभूति है और सर्वथा साध्य तथा समुत्कृष्ट वही है। यदि काव्यकार के सर्जनाप्रवण मानस में रसेतर (इतरविध) वृत्ति उद्रिक्त हो जाती है और उसका समूचा प्रातिभ सरम्भ, कल्पनात्मक प्रयास उसी पर केन्द्रित हो जाता है, तो होने को या हुए को अन्यथा तो नहीं किया जा सकता, किन्तु वह साहित्यिक दृष्टि से साध्य तत्व की अवहेलना है।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि काव्य वहीं रसात्मक हो सकता है, जहाँ बीज-रूप में कवि की मनोवृत्ति स्वयं रसात्मक हो। पर सर्जक सर्वथा और सर्वदा रसात्मक मनोवृत्ति में काव्य करता तो काव्य के रसेतर-ध्वनिकाव्य, मध्यम-काव्य और अधमकाव्य पक्ष कैसे होते? चरित्र और घटना-प्रधान काव्य कैसे होते? 'यथार्थ' के चित्रण को साध्य बनानेवाली यथार्थधर रचनाएँ काव्य क्यों होतीं? काव्य की परिधि में ये रूप कैसे आते? अथवा इन पर रस का संचार कैसे हो सकेगा? वाजपेयीजी से सहमत, असहमत होना अलग बात है, पर उन्होंने अपना पक्ष बड़ी दृढ़ता से ऊपर के उद्धरण में इन सबको अकाव्यात्मक कहते हुए रख दिया है। ऐसी बात नहीं कि इनमें काव्य की सामग्री नहीं है—है, परन्तु जो तारतम्य, सामञ्जस्य, सामरस्य और साध्य-साधन के आनुरूप्य निर्वाह का औचित्य है, वह अस्तव्यस्त है। काव्य की दिशा में रसेतर तत्वों को साध्यरूप में प्रस्तुत करने-वाली कृतियों को 'प्रयास' कह लें और रसात्मक मनःस्थिति को साध्य रूप में प्रस्तुत करनेवाली कृतियों को 'परिपाक' कह लें, तो वाजपेयीजी की दृष्टि में कह सकते हैं।

रस के इस व्यापक रूप को देखकर कुछ आक्षेपधर यह कहते हैं कि उक्त आलोक में 'रस' का स्वरूप यदि निर्धारित किया जाय, तब तो यह मानना पड़ेगा कि 'रसस्वरूप' विषयक क्रमागत भारतीय धारणा का सर्वथा अन्यथा भाव ही हो गया। इसीलिए वाजपेयीजी के रससिद्धान्त के विषय में निम्नलिखित तीन विकल्प खड़े किये जा सकते हैं। यहाँ—

रस शब्द को भारतीय प्राचीन रसवादी परम्परा से भिन्न अर्थ दिया गया है?

अथवा

मध्यकालीन विजड़ित रूप का परिष्कार किया गया है?

अथवा

आनन्दवर्द्धन की युगोचित भूमिका पर पुनर्व्याख्या की गयी है?

इन तीनों विकल्पों में से प्रथम विकल्प वाजपेयीजी के वक्तव्यों के साक्ष्य पर

सर्वथा अग्राह्य हो जाता है। वे स्वयम् कहते हैं—'रस' शब्द भारतीय साहित्य शास्त्र का बहुप्रचलित और सर्वविदित शब्द है। प्रायः ढाई हजार वर्षों से इस शब्द का अनेकानेक ग्रन्थों में प्रयोग होता आ रहा है। इस अत्यन्त दीर्घकालावधि में प्रयुक्त इस शब्द का महत्त्व अकेले इस बात से ही सिद्ध हो जाता है कि आज तक इसके प्रयोग में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी बल्कि इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों और मनीषियों के नित्यनवीन विचार उन्मीलित होते रहते हैं। जहाँ एक ओर इस शब्द से 'रस' शब्द की महाप्राणता सिद्ध होती है, वहीं इसके वास्तविक स्वरूप निर्धारण में मतमतान्तर भी बढ़ते जाते हैं और व्याख्याओं का एक जगत् ही निर्मित होता जाता है। वर्तमान समय में काव्य में रस की स्थिति के विषय को लेकर अनेक चिन्त्य धारणाएँ व्यक्त की जा रही हैं, जिनमें से प्रमुख यह है कि काव्य में रस की संस्थिति ही नहीं होती। यद्यपि सभी प्रबुद्ध विचारक इस प्रकार के निर्देश को अस्वीकार करते हैं, परन्तु इस प्रकार की धारणाओं का निर्मित होना **भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा** का ऐसा असाधारण प्रत्याख्यान है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारे इस निबन्ध का एक लक्ष्य यह भी है कि रस के स्वरूप के ज्ञान से एक ऐसा रसांजन निर्मित किया जाय जो नये काव्यद्रष्टाओं के लिए 'नयन अमिय दृगदोष विभंजन' का काम भी कर सके। स्पष्ट है कि इस बृहद् व्याख्यान से उनकी स्पष्ट प्रतिज्ञा है—भारतीय काव्य-शास्त्रीय परम्परा की रक्षा, न कि 'रस' शब्द को परम्पराविच्छिन्न अर्थ प्रदान कराना। 'राष्ट्रभाषा की समस्याएँ' शीर्षक कृति में एक लेख है, जहाँ उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी साहित्य-मतों का उपस्थापन करते हुए यह स्पष्ट बताया है कि भारतीय तत्वज्ञान ही अधिक पुष्ट है। इन वक्तव्यों के आलोक में इतना तो स्पष्ट है कि वाजपेयीजी 'रस' शब्द को जो अर्थ दे रहे हैं वह 'भारतीय-परम्परा-विच्छिन्न' नहीं है।

इस पर भी प्रथम विकल्प का प्रेत शान्त नहीं होता। कारण, वाजपेयीजी ने 'जयशंकर प्रसाद' में कहा है—"यदि पश्चिमी आचार्यों ने काव्य में कल्पना की अवास्तविक और अबाध उड़ानों के लिए जगह छोड़ दी है तो दूसरी ओर भारतीय भावसत्ता के आग्रह में जीवन और जगत् की वास्तविक गतिविधि और यथार्थ मानव व्यवहार की उपेक्षा की भी पूरी सम्भावना रह गयी है। वास्तव में पद्धति-बद्ध भाव निरूपण को ही हम रीतिकालीन शृंगारिक कविता में पाते हैं। इस दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही काव्य धारणाएँ पूर्णतः अव्याहत नहीं हैं···।" लगता है जैसे इस वक्तव्य द्वारा वाजपेयीजी भारतीय धारणा को अपर्याप्त और व्याहत मानते हैं और नया अर्थ देने का संकल्प कर रहे हैं। उनका मत है कि कोई भी काव्यसिद्धान्त अपने में अकाट्य नहीं होता।

लेकिन इसी 'जयशंकर प्रसाद' में बिलकुल इसी प्रघट्टक के बाद दूसरे प्रघट्टक में वे कहते हैं—"अस्तु, भारतीय धारणा के अनुसार भावनिरूपण के

लिए ही वस्तुनिरूपण किया जाता है। वस्तु के स्वतन्त्रचित्रण के लिए काव्य में अधिक अवकाश नहीं रहता, क्योंकि रस-निष्पत्ति काव्य का प्रमुख लक्ष्य होती है। भारतीय आचार्यों ने काव्य का विभाव पक्ष और भावपक्ष अवश्य माना है, पर विभाव और भाव—दोनों ही काव्य में रस का संचार करने के लिए होते हैं। विभाव के अन्तर्गत बाह्य जगत् (आलम्बन के रूप में) और प्रकृति की सत्ता (उद्दीपन रूप में) आ जाती है और इन दोनों के अतिरिक्त कोई वर्णनीय वस्तु हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार अनुभाव और संचारियों के अन्तर्गत मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मक सत्ता का समावेश हो जाता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से रस के अंगों का निरूपण अपने में पूर्ण और अकाट्य है तथा उसमें किसी प्रकार की अव्याप्ति या अतिव्याप्ति नहीं पायी जाती।" इसे लम्बे उद्धरण से नितान्त स्पष्ट होते विलम्ब भी लगता कि वाजपेयीजी के इस परवर्ती उद्धरण में भारतीय आचार्यों का अनुनाद ही श्रुतिगोचर होता है। ठीक यही आशय 'दशरूपककार' धनञ्जय व्यक्त करते हैं—

रम्यं जुगुप्सितमुदारम धापि नीच—
मुग्रं प्रसादेगहनं विकृतं च वस्तु।
यद् वाप्यवस्तु कवि-भावक-भाव्यभानं
तन्नास्ति मन्न रसभावमुपैति लोके।

अर्थात् इस लोक में रमणीय, जुगुप्सित, उदार-नीच, उग्र-मृदु, गहन-विकृत चाहे जैसी भी वस्तु हो, या व्यवहार जगत में वह वस्तु न भी हो—कवि और भावक की कारयित्री तथा भावयित्री प्रतिभा का विषय बनकर रसमय हो जाती है। निष्कर्ष यह कि लोक में ऐसा कुछ भी नहीं है जो कवि की कल्पना का स्पर्श पाकर रसमय न हो जाय। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने भी अपने ध्वन्यालोक में स्पष्ट कहा है—"यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्य प्रकारो न सम्भवत्येव यसमादवस्तु संस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जागद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वांगत्वं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्ति विशेषा हि रसादयः। न च तदस्ति वस्तु किंचिद्यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनमति, तदनुत्पादने वा कविविषय-तैव तस्य न स्यात्' (ध्वन्यालोक) अर्थात् काव्य का ऐसा कोई भी प्रकार हो नहीं सकता, जहाँ रस का विषय न हो। कारण, काव्यमात्र में किसी-न-किसी वस्तु का संस्पर्श तो होगा और वस्तुमात्र, जो संसार में है, किसी-न-किसी रस या भाव का अंग होगी ही, न कुछ होगी, तो विभाव तो होगी ही, किसी-न-किसी प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया तो उत्पन्न करेगी ही और यही मनोवृत्ति या चित्तवृत्ति रस है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो चित्तवृत्ति न पैदा करे और जो इसमें समर्थ होगी नहीं, ऐसी वस्तु को कवि अपने वर्णन का विषय ही क्यों बनायेगा? इस प्रकार इन उद्धरणों में 'रस विषयक' बड़ी ही व्यापक धारणा है। वाजपेयीजी के उक्त उद्धरणों में स्पष्ट ही इन उद्धरणों का अनुनाद है। वे रीतिकालीन

'परिपाटीबद्ध रसनिरूपण' का विरोध कर रहे थे, सम्भावनाओं से संवलित 'रस' सिद्धान्त का नहीं। राष्ट्रीय चेतना, वैदिक दृष्टि और भारतीय समाज की स्वस्थ मान्यताओं के प्रति आस्था रखनेवाला चिन्तक रस सम्बन्धी भारतीय परम्परा का खण्डन नहीं, अनुनाद कर रहा है। हाँ, मध्यकाल में जो अनावश्यक रूढ़ियाँ निर्मोक बनकर उस पर छा गयी थीं, उनका खण्डन अवश्य किया है।

सन्दर्भ

1. शुक्लजी ने स्पष्ट कहा है कि राम के काव्यात्मक निरूपण में ही पाठकों या श्रोताओं को रस मिलता है, रावण के निरूपण में नहीं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परा

यह समझ भ्रान्त है कि परम्परा खण्डित भी होती है। वास्तव में परम्परा उस जीवन्त चेतना का नाम है जो आपाततः विरुद्ध जान पड़ती हुई ध्वंसात्मक और रचनात्मक क्रियाओं के माध्यम से आत्मविकास करती है। विकास परिवर्तनात्मक ही होता है और परिवर्तन मात्रात्मक ही नहीं, गुणात्मक भी होता है। गुणात्मक परिवर्तन में भी सम्बन्ध-सूत्र विकास मूल और विकसित के बीच क्या आत्यन्तिक रूप से विच्छिन्न हो जाता है ? नहीं, विकास में पूर्वापर-सम्बन्ध किसी भी स्तर पर विच्छिन्न नहीं होता। जो यह कहता है कि परम्परा खण्डित होती है, उसका यह कहना भी सही है कि एक परम्परा के आगे कोई दूसरी परम्परा भी होती है--क्योंकि वह 'एक' और 'दूसरी' के बीच दोनों में अनुस्यूत अविरोधी तत्व नहीं मानता या कि देखता है। सृजनात्मक सम्भावना से संवलित बीज अपने विकास की समग्रता, अंकुरण से लेकर कलात्मक परिणमन तक में एक विशिष्ट परम्परा रखता है। इस अंकुरण से परिणमन तक की परम्परा एक ऐसी जीवन्त चेतना है, जीवनी शक्ति है, जिसका विकास अनेक ध्वंसात्मक और रचनात्मक क्रियाओं के बीच हुआ है। बीजांकुरण से फल-परिणमन में प्राप्त परम्परा या जीवनी शक्ति एक है। वह अपनी दृश्यमान यात्रा (अदृश्यमान में भी) में न तो टूटती है और न ही सर्वथा दूसरी होती है, अपनी अखण्डता से विकसित होती है। स्थूल बुद्धि से इसे खण्डित होना या टूटना कहा जा सकता है अथवा एक से टूटकर दूसरी होना कहा जा सकता है। स्थूल बुद्धि का आशय यह है कि वह उस जीवन्त चेतनात्मक परम्परा के दृश्यमान विकासक्रम को ही परम्परा समझता है, फलतः उसे खण्डित होना और दूसरा होना जान पड़ता है। जब कवीन्द्र रवीन्द्र भारतीय संस्कृति (उसके व्यक्तित्व का विकसित रूप) को 'महामानवेर समुद्र' कहते हैं या कि जब हजारीप्रसाद द्विवेदी उसे केवल आर्य जाति के प्रदेय के रूप में न पहचानकर तमाम देश-विदेश की जातियों के सम्मिलित प्रयास के रूप में परखते हैं या कि जब नेहरूजी कुछ विशेष कारण से उसे 'सामासिक संस्कृति' कहना बेहतर समझते हैं और दिनकरजी 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखकर उसकी पुष्टि करते हैं—तब मेरे दिमाग में जो प्रतिक्रिया होती

है, वह कुछ विचित्र-सी ही है। यह सही है कि जीवनी शक्ति आत्मविकास के लिए बाहर से खुराक लेती है, पर विकास करती है आत्मनिर्गत सम्भावना का ही। बीज की शक्ति ही वृक्षात्मक विकास होती है पर वहाँ न तो आन्तर क्षमता का विरोध है और न ही अनुरूप विकासोपयोगी बाह्य परिवेश का ही, इसीलिए मनोदर्शन मानता है कि व्यक्तित्व अनुवंशतः समागत चेतना और परिवेश की समंजस परिणति है। समस्या यह है कि इसे दो का जुड़ना कहा जाय, सम्मिश्रण कहा जाय या एक का विकास कहा जाये, या कि दोनों को एक माना जाय? मैं इस विकास को आन्तर जीवनीशक्ति और परिवेश का जोड़ नहीं, अपितु परिवेश की सहायता से अन्तर का विकास कहूँगा। अन्य विकल्पों को किसी दृष्टि से संगत मानने पर भी तात्विक दृष्टि से असंगत और भ्रामक समझूँगा।

तात्विक दृष्टि के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद खड़ा हो सकता है अर्थात् विकास पूर्ववर्ती सम्भावना का होता है या सर्वथा असम्भावित पूर्व में सूक्ष्मरूप में भी अविद्यमान का होता है? विज्ञान विकास की व्याख्या करता है, पर मंगल-अमंगल अथवा सुन्दर-असुन्दर को लक्ष्यगत रखकर नहीं। वह कुछ भी मानकर नहीं चलता (यद्यपि कहीं-न-कहीं उसे भी कुछ-न-कुछ मानकर चलना पड़ता है), पर लोकमंगल या आत्ममंगल को लक्ष्य कर विकास की व्याख्या करनेवाला दार्शनिक भिन्न पथ अपनाता है। दार्शनिक यदि लोक-मंगल या आत्ममंगल के उद्देश्य से सम्पृक्त है तो विकास की व्याख्या 'मंगल' या 'सुन्दर' की दृष्टि से ही करेगा। ऊपर तात्विक दृष्टि से सम्बद्ध जो दो विकल्प रखे गये हैं उनमें से पहला 'सत्कार्य-वादी' है और दूसरा 'अ-सत्कार्यवादी'। पहला मानता है कि पूर्वस्थित क्षमता का ही (स्थूल) विकास (अभिव्यक्ति) होता है, जबकि दूसरा सर्वथा अविद्यमान की उत्पत्ति को विकास का नाम देता है। अर्थात् जो 'नहीं' था वह 'हुआ'। असत् कार्यवादियों के और भी अतिरंजित पक्ष हैं—एक कारण (उपादान, समवायी, असमवायी) मानता है, दूसरा कारण मात्र का निषेध कर अ-कारण-वादी हो जाता है, वह मानता है कि अभाव से ही सबकुछ हुआ है, 'न होने' से ही सबकुछ 'हुआ' है। बौद्धों का यही दुर्दान्त पक्ष था, जिस तर्कशिला से भारतीय संस्कृति पिस रही थी। यही समय था जब कुमारिल, शंकर तथा वसुगुप्त आगम-निगम सम्मत चिन्तनधारा की चतुष्पाद प्रतिष्ठा में दत्तचित्त थे। अस्तु, यहाँ दर्शन की शैबीजटा में प्रक्रान्त ज्ञान-गंगा को उलझाना हमारा अभीष्ट नहीं है, अन्यथा यह 'सर्जनात्मक समीक्षा' का अंग न होकर विशुद्ध 'दर्शन' बन जायेगा। कुल मिलाकर मैं कहना यह चाहता हूँ कि सही क्या है? तत्वद्रष्टा कौन है इसका निर्णय तो हम सबके बूते का नहीं है, पर इसका निर्णय हम सबकी बुद्धि से सम्भव है कि द्विवेदीजी अपने समस्त लेखन के साक्ष्य पर किस दृष्टि के पक्षधर हैं? वे 'मानवतावादी' चिन्तक हैं, इतना तो निर्भ्रान्त है, वे लोक मंगल को दृष्टिगत कर सोचने-विचारनेवालों के वर्ग के हैं—विज्ञानप्रसूत मान्यताओं को यथासम्भव आत्मानुरूप ग्रहण भी करते हैं, फिर भी उनका चिन्तन समाजदार्शनिक का है,

फलतः सोद्देश्य है। उनके समस्त लेखन के साक्ष्य पर यह भी निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि उन्हें उस 'मानवता'वाद में आस्था है, जिसका पर्यवसान 'पूर्ण चेतनावाद' में है। इसीलिए मैं इन्हें 'चिन्मुखमानवतावादी' कहता हूँ। उन्होंने अनेकत्र यह कहा है, विशेषकर 'अनामदास का पोथा' में—कि मानवीय मूल्यों के आचरण का पर्यवसान विश्वमंगल के साथ-साथ विश्वात्मक और विश्वातीत चिदानन्दमय सुख में होना चाहिए। काशी का कबीर शान्तिनिकेतन के रवीन्द्र के गर्भ से हजारीप्रसाद द्विवेदी के रूप में विकसित होता है—यह भी एक विकासमान परम्परा ही है। निष्कर्ष यह कि द्विवेदीजी के सन्दर्भ में मध्य-कालीन कबीरी वैष्णवी चेतना जो रवीन्द्रयाथ के माध्यम से द्विवेदीजी में माडर्नाइज्ड होकर विकसित हुई है—उसे नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। 'सहज साधना' में वे कहते हैं—"जो आचरण चिन्मूलक है वही श्रेष्ठ है। जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चिन्ममयस्तर प्रभावित होता है वह अधिक महत्वपूर्ण होता है।" ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि द्विवेदीजी की जिस तत्वदृष्टि में आस्था या निष्ठा है—वह आत्मवादी दृष्टि है और आत्मवादी दृष्टि, पूर्णतावादी है। पूर्णतावादी अन्ततः सत्कार्यवादी है। पूर्णतावादी दृष्टि का पक्ष है कि चरम-सत्ता चिन्मय है और एक साथ विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण है। सारी सृष्टि सम्भावनात्मक शक्ति के रूप में 'मायूराण्ड रसन्याय' से उस परमसत्ता में निहित है, उसी अन्तःस्थित का बहिःप्रकाश सृष्टि है। इस तत्वदृष्टि का चिन्तक, 'विकास' को आन्तरिक क्षमता की परिणति ही मानेगा, व्यवहार के धरातल पर बाह्य परिवेश उसके समुचित विकसन में भी सहायक होगा।

द्विवेदीजी के इस चैन्तनिक आलोक में जब हम 'परम्परा' शब्द की व्याख्या करते हैं और उसे समझना चाहते हैं, तब हमें यही कहना पड़ता है कि परम्परा एक ऐसी जीवन्त चेतना है जो आत्मविकास के लिए बाह्य प्रभाव का सहकार लेती है, पर जो विकसित होता है, वह आत्मगत सम्भावना का ही होता है, वह बाहर का नहीं होता। बाह्य प्रभाव यदि आत्मगत सम्भावना के अनुकूल है तो उससे हम विकासशील बीज-चेतना के अनुकूल होंगे या बना लिये जायेंगे तभी उनका ग्रहण होगा—अन्यथा प्रतिकूल होने से उनका परित्याग ही सम्भव होगा। द्विवेदीजी कहते हैं कि जब तक हमारी पाचनशक्ति जीवन्त थी, तब तक हमने अनुकूल का मुक्त भाव से ग्रहण किया और प्रतिकूल या हानिकर का वैसे ही अ-ग्रहण। प्रत्येक राष्ट्र सार्वभौम सत्य या अविरोधी धर्म या संस्कृति को अपने व्यक्तित्व के अनुरूप पाने का प्रयत्न करता है, अपने इसी व्यक्तित्व से वह पहचाना भी जाता है। एक बात और, जब यह कहा जाता है कि बाह्य प्रभाव को ग्रहण करती हुई भारतीय संस्कृति ने आत्मोपलब्धि की है, फलतः वह केवल आर्य जाति की देन नहीं है—तब सवाल यह खड़ा होता है कि इस ग्रहण प्रक्रिया में कौन ग्रहीता है और कौन ग्राह्य है? क्या यह प्रक्रिया भानुमती के कुनबा जैसी है, जहाँ यहाँ का ईंट और वहाँ का रोड़ा मिलते हैं या चेतन प्रक्रिया है, जिसमें कोई ग्रहीता

है और वह अपनी जीवनीशक्ति के अनुरूप ग्राह्य तत्वों का ग्रहण और त्याज्य तत्वों का त्याग करता चलता है।

यहाँ आर्य (भारतीय) जाति की संस्कृति या परम्परा की बात चल रही है—अतः यह सवाल भी खड़ा होता है कि जाति की आत्मा क्या है—इस विषय के विशेषज्ञ कहते हैं कि वह विशिष्ट संस्कारों का अयुतसिद्ध संघात मात्र है। प्रत्येक देश में जल, वायु, भूमि, सूक्ष्म वातावरण आदि कारणों से एक विशिष्ट प्रकृति का विकास होता है। उस देश में दीर्घकाल तक अवस्थान करने के प्रभाव से, उस पर देश-प्रकृति की छाप लग जाती है। 'भारतीय संस्कृति'—शब्द का तात्पर्य यह है कि वह संस्कृति पूर्वोक्त प्रणाली से भारतीय प्रकृति की छाप से अंकित है। इसीलिए इसमें आर्य, द्रविड़, दस्यु, किरात, शक, पह्लव प्रभृति बहुभावापन्न विभिन्न धाराओं के योग रहने पर भी सभी अल्पाधिक भारतीय प्रकृति सम्पन्न होने के कारण भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश-प्रकृति के अनुरूप कालभेद से भी एक नैमित्तिक परिवर्तन होता है, उसे युगप्रकृति कह सकते हैं। इन सब प्रकृतियों के भीतर होकर बीज का आत्मविकास होता है।[1] यह बीज उस जाति का अपना वैशिष्ट्य है—जो वहाँ के परिवेश में उभरता है। इस विवेचन के आलोक में यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक जाति का अपना वैशिष्ट्य होता है और वही उसकी अन्तरात्मा है। वही बीज है, उसी में निहित सम्भावना का विकास होता है। फिर कहता हूँ कि जिस प्रकार व्यक्ति देह में, जीवनीशक्ति से ग्रहण और त्याग द्वारा जीवन व्यापार निष्पन्न होता है—उसी प्रकार समष्टिगत सामाजिक देह में भी। महासमष्टिगत विश्वदेह में भी यही एक नियम है। किसी भी संस्कृति की अविच्छिन्न धारा के संरक्षण का यही रहस्य है। इन सब बातों में एक ही तथ्य की पुष्टि करना चाहता हूँ कि परम्परा खण्डित नहीं होती, अविच्छिन्न रहती है। यह परम्परा तभी खण्डित होती है, जब उस जाति का वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है और जब यह बीजात्मक वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है, तब भी उस जाति से ही 'संस्कृति' को जोड़ना, निराधार और अतर्क संगत है और अगर हम जोड़ते हैं तो उस जाति के बीजात्मक वैशिष्ट्य को मानना पड़ेगा, जो ग्रहण त्याग करता हुआ, आत्मविकास करता है। इसीलिए द्विवेदीजी के सन्दर्भ में जिस परम्परा या भारतीय संस्कृति की बात की जा रही है और जिसे 'महामानवेर समुद्र' से उपमित किया जा रहा है, वह भानुमती का कुनबा नहीं है, बल्कि कालप्रभाव से अपने को 'एडजस्ट' करनेवाली समन्वयी चैतन्य प्रक्रिया है—जिसमें भारतीय आर्य जाति का बीजात्मक वैशिष्ट्य जो विशिष्ट सस्कारों का अयुतसिद्ध संघात है—ग्रहीता है और बाह्य प्रभाव ग्राह्य सामग्री। इस दृष्टि से भारतीय संस्कार या परम्परा को 'सामासिक' न कहकर 'समन्वयी' कहना चाहिए, (इस क्रम में) साथ ही यह भी कि परम्परा खण्डित नहीं होती।

कबीर के माध्यम से जाति धर्मनिरपेक्ष मानव की प्रतिष्ठा का श्रेय तो द्विवेदीजी को ही है। एक प्रकार से यह दूसरी परम्परा है—इस वक्तव्य द्वारा

द्विवेदीजी का साहित्य-प्रस्थान शुक्लजी के साहित्य प्रस्थान से भिन्न कहा जा रहा है—दूसरा कहा जा रहा है, इसमें अवश्य कुछ सचाई है। शुक्लजी की समझ या साहित्यिक मानदण्ड 'तुलसी साहित्य' को केन्द्र में रखकर चलता है, जबकि द्विवेदीजी का 'कबीर' को। तुलसी 'नेशनल पोइट' है, कबीर 'इण्टरनेशनल'। आलोचक तुलसी को प्रवृत्तिमार्गी भारतीय परम्परा का जितना प्रतिनिधि व्याख्याकार मानते हैं, उतना प्रतिनिधि व्याख्याकार कबीर को नहीं, इसीलिए शुक्लजी ने कबीर को समाज सुधारक नहीं, समाज बिगाड़क तक कह दिया, आदर्श कवि और तत्त्वदृष्टा तो माना ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि दोनों का प्रस्थान भेद है। यद्यपि दोनों 'मानवता' को महत्व देते हैं—मानवता की अपरोक्षानुभूति को रसात्मक भी कहते हैं, फिर भी जहाँ शुक्लजी 'मानवता' को सर्वसामान्य द्वारा बोधगम्य मानव मन की एक सात्विक दशा का पर्याय मानते हैं—परदुःख कातरता से उसे एक रस बताते हैं, लोकमंगल प्रवर्तक मनोदशा कहते हैं—व्यक्तिसत्ता का लोक सत्ता में विलयन रूप मानते हैं—रागात्मक सत्ता का लोकव्यापी प्रसार मानते हैं, वहाँ द्विवेदीजी 'मानवता' की व्याप्ति, इस रूप को आत्मसात् कराते हुए और भी विस्तृत करते हैं—अर्थात् शुक्लजी की मानवता, बोधगम्य, लोकस्तरीय ही है, उसका किसी लोकोत्तर चिन्मयस्तर से सम्बन्ध नहीं है। द्विवेदीजी उसे वहाँ तक ले जाते हैं जहाँ पहुँचकर व्यासजी ने कहा था—

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्"

जिसकी प्रतिध्वनि चण्डीदास की निम्नलिखित पंक्ति में सुनाई पड़ती है—

शाबार उपर मानुस ताहार उपर नाई

यह 'मनेर मानुस' लोकात्मक और लोकोत्तीर्ण दोनों भूमियों का स्पर्श करता है। मनुष्य में जो मानवता है, वह अपरिमेय सम्भावनाओं का बीज है, उसकी चरितार्थता नैतिक स्तर की व्याप्ति को भी अतिक्रान्त कर आध्यात्मिक स्तर तक ले जाती है। शुक्लजी की मानवता नैतिक स्तर की रस दशा है। कबीर की मानवता उसको आत्मसात् करती हुई आध्यात्मिक स्तर तक विकसित रस दशा है। द्विवेदीजी भी शुक्लजी की भाँति साहित्य का लक्ष्य 'मानवता' का साक्षात्कार ही मानते हैं परन्तु द्विवेदीजी की 'मानवता' उस 'महाएकता' का पर्याय है जिसमें भौतिक, नैतिक, आध्यात्मिक सभी स्तर समाहित हैं। कबीर इसी 'महाएकता' स्वरूप रस दशा का अपरोक्षीकरण करते हैं और यही रस उनकी समस्त रचना का मूल स्रोत है, जो अदम्य और अपरिमेय ऊर्जा से सम्वलित है। शुक्लजी तुलसी साहित्य के लोकातिक्रान्त पक्ष को अनालोचित रहने देते हैं—उसे लोकमंगलाभिमुख व्याप्ति तक ही सीमित रखते हैं—उस लोकमंगलाभिमुख व्याप्ति तक जो बोधगम्य है। उनके लिए साहित्य मनोमय कोष से ऊपर जाता ही नहीं। शुक्लजी की मानवता में ही जगद्रक्षक तथा रंजक रूप ईश्वरत्व समाहित है—कबीर सम्मत द्विवेदीजी की मानवता महाएकता—चिन्मयस्तर तक, अमनोगोचर स्तर तक, विकसित होने की सम्भावना रखती है—उसमें जगद्रक्षक, जगद्रंजक से भी

बृहत् चिदानन्दगम ईश्वरत्व के उन्मेष की सम्भावना है। दोनों की ईश्वर सम्बन्धी धारणा भी भिन्न है। मृत्युंजयी रवीन्द्र तथा अपने सर्जनात्मक साहित्य में द्विवेदीजी ने कवीन्द्र रवीन्द्र की भाँति उसकी प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या की है जो नवजागरण का मुख्य स्तर था, मध्यकालीन वैष्णवी चेतना का यही 'माडर्नाइजेशन' है—यही लोकोन्मुखी आगम सम्मत व्यापक चेतना का उन्मेष है। रैक्व इसी रति या प्रेम मार्ग का उपासक है—मध्यकालीन विरति मार्ग का नहीं। इस प्रकार द्विवेदीजी अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समझ से भारत की मूल परम्परा से ही जुड़े हुए हैं। अवश्य ही बुद्धिवादी शुक्लजी की परम्परा वैज्ञानिक परिवेश की उपज है जो आत्मवादी भूमि से अपने को विच्छिन्न करती है। इस प्रकार शुक्लजी अपनी परम्परा का निर्माण कर रहे थे—द्विवेदीजी उससे भिन्न परम्परा से जुड़े हुए थे और वह परम्परा दूसरी होती हुई भी अखण्ड थी, खण्डित या विच्छिन्न नहीं थी।

सन्दर्भ

1. भारतीय साधना और संस्कृति, भाग-1, पृष्ठ 213.

द्विवेदीजी की दृष्टि में 'मृत्युञ्जय रवीन्द्र'

मानव जीवन के दो पक्ष हैं—अन्तरंग और बहिरंग। बहिरंग पक्ष उसका शारीरिक पक्ष है और अन्तरंग पक्ष उसकी चेतना का पक्ष है। संसार या जगत् संसरणशील और गत्यात्मक है, अतः मानव भी अपने उभयपक्षों में गत्यात्मक और संसरणशील है, विकासशील है। अपनी लम्बी कालयात्रा में उसने अपने दोनों पक्षों को विकसित किया है। अपनी दैहिक या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के सन्दर्भ में विज्ञान और टेकनालाजी के माध्यम से जीवनयापनोपयोगी साधनों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। बहिरंग विकास की यह यात्रा 'सभ्यता' का मानदण्ड कही जाती है। इस बहिरंग पक्षीय विकास को हम 'सभ्यता' कहते हैं और दूसरी ओर चेतना में सम्भावित लोकमांगलिक मूल्यों के उद्भावन से हमारी संस्कृति नापी जाती है। जीवन मानवेतर का भी होता है और मानव का भी, किन्तु 'है' और 'चाहिए' का विवेक मानवीय जीवन में विकसित चेतना में ही होता है। इसीलिए मानव अपनी विशिष्ट चेतना के बल पर अपनी अन्तरंग जीवनयात्रा को 'चाहिए' की दिशा में लोकमंगल और तद्विरोधी आत्ममंगल की दिशा में मोड़ता है और तदनुरूप मूल्यों की उद्भावना करता है। ऐसे मूल्यों की खोज करता है जिससे वह अपने को, अपने समाज को, राष्ट्र और विश्व को धारण करता है। इन्हीं मूल्यों को हम धर्म और संस्कृति का नाम देते हैं। इसीलिए हम Means of life को **सभ्यता** और Values of life को **संस्कृति** कहते हैं। जब आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि संस्कृति हमारे उच्चतम चिन्तन का मूर्त रूप है, तब वे भी इसी का समर्थन करते हैं। चिन्तन वही उच्च है जो मानवमंगल विधायक हो और ऐसा चिन्तन जब तक आचरण में मूर्त न हो जाय, तब तक उसकी चरितार्थता ही क्या? अतः हमारी संस्कृति का विचारात्मक ही नहीं, आचारात्मक पक्ष भी है। भारतीय कँड़े के पण्डित कहते हैं कि 'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति और तदाधारित अर्थ पर विचार किया जाय, तो स्पष्ट है कि संस्कृति ऐसी कृति या चेष्टा है, जिसमें न केवल सम्यक्त्व या विवेक का विनियोग हो, अपितु वह विवेक सम्पादित कृति मानव के लिए भूषण भी हो—(सम् + स् + कृति + सम्यक् + भूषण + चेष्टा) ऐसा तभी सम्भव है जब विवेक मानवीय चेतना की छाया में

सक्रिय हो, मानवीय सम्वेदन से संसिक्त हो, अन्यथा बुद्धिपूर्वक सम्पादित चेष्टा या प्रयत्न आलोक मांगलिक भी हो सकता है। मनुष्य के पास हृदय है, बुद्धि है, और हैं हाथ, तीनों की लोकमंगलमुखी दिशा में समन्वित यात्रा ही उसकी सांस्कृतिक यात्रा है, जय यात्रा है, मानवता की चरितार्थता का प्रस्थान है।

जीवन मूल्य का नाम संस्कृति है। ये मूल्य जीवन जीने के क्रम में ही उद्भूत हुए हैं। जहाँ तक भारतीय संस्कृति का प्रश्न है, कुछ लोग उसे 'सामाजिक संस्कृति' कहते हैं और कुछ कहते हैं कि यह राष्ट्रवादियों का उछाला हुआ निरर्थक शब्द है। इसके निर्माण में न जाने किन-किन बाहर से आये हुए लोगों का क्या-क्या योगदान है। जो भी हो, मैं इतना मानता हूँ, कि जैसे व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुरूप न जाने क्या-क्या कहाँ-कहाँ से ग्रहण कर अपना असाधारण प्रत्यभिज्ञापक व्यक्तित्व विकसित करता है, वैसे ही राष्ट्र का भी एक स्वभाव होता है और यह भी अपना असाधारण प्रत्यभिज्ञापक सांस्कृतिक व्यक्तित्व विकसित करता है। भारत के विषय में भी यह सही है। चिन्तकों ने ब्रिटेन का स्वभाव व्यावसायिक और भारत का स्वभाव आध्यात्मिक बताया है। श्रीअरविन्द और कजिन्स ने इसका समर्थन किया है पर श्रीअरविन्द ने कजिन्स की इस धारणा से सहमत होते हुए भी कि भारत का स्वभाव 'अध्यात्म' में निहित है, भारतीय अध्यात्म के स्वरूप के विषय में मतभेद व्यक्त किया है। जेम्स एच. कजिन्स जब कहता है कि जन जागरण के सम्बन्ध में भारत कभी सोया ही नहीं, तब उसकी दृष्टि भारतीय आध्यात्मिकता पर ही केन्द्रित है। इस दृष्टि से वे ठीक भी हैं, क्योंकि इसी शक्ति ने प्रत्येक संकट में भारत को विनष्ट होने से बचाया है। भारतीय आध्यात्मिकता पश्चिमी अर्थ में केवल गुह्यवादिता तक सीमित नहीं है। अपितु आध्यात्मिकता के अतिरिक्त उसमें सर्जनात्मकता और बौद्धिकता भी है।

श्री रवीन्द्र नवजागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति

कालचक्र के प्रवाह में भारतीय स्वभाव का स्फुलिंग—आध्यात्मिकता तो कभी नहीं बुझी, परन्तु उस पर राख अवश्य छा गयी, उसका बहिरंग समाज जीर्ण-शीर्ण होता गया। उन्नीसवीं शती विश्व-भर के लिए एक संक्रान्ति का बिन्दु बनकर आयी थी, विश्वचेतना ने एक नयी अँगड़ाई ली—इसे नवजागरण के नाम से सम्बोधित किया गया।

भारतीय सन्दर्भ में रवीन्द्रनाथ को इसी सांस्कृतिक नवजागरण की का व्यात्मक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। इनकी रचनाओं से, उनकी सार्वभौम प्रतिष्ठा से राष्ट्र में—जो अर्धसभ्य घोषित किया गया था, जो पराजित था—एक अपराजेय आत्मबल का संचार हुआ।

चलते-चलते वे कह गये थे—'नागिनियाँ चारों ओर जहरीला निःश्वास छोड़ रही हैं। इस समय शान्ति की ललित वाणी भी दारुण परिहास-सी सुनायी देगी, फिर भी मैं उन लोगों को पुकार जाता हूँ जो घर-घर (मनुष्य के भीतर वर्तमान)

दानव से जूझने की तैयारी कर रहे हैं।' श्रीरवीन्द्र के हिसाब से यह नवजागरण का दूसरा चरण है, बौद्धिक मन्थन का चरण है। मन्थन में पहले विष निकलता है, बाद में अमृत।

भारतीय चिन्तक का मर्म

भारतीय संस्कृति का सच्चा उन्नायक कभी यह नहीं कहता कि चिन्तन के क्षेत्र में अमुक बिन्दु उसका मौलिक है, वह केवल अपने को व्याख्याकार मानता है। श्री रवीन्द्र की भी यही स्थिति है। उनके व्याख्याकार का भी उपजीव्य है—भारतीय सांस्कृतिक चिन्तनपरक आत्मवादी वाङ्मय, साधनाप्रसूत अनुभूति तथा अन्य सन्तों, ऋषियों और मर्मियों की बानियाँ, अनन्त सम्भावनाओं से आपूरित।

चरम सत्य और श्री रवीन्द्र

चरम सत्य के विषय में उनकी धारणा है कि वह मानव सापेक्ष है। मानव निरपेक्ष कोई सत्य हो भी, तो उसे हम जान नहीं सकते। सत्य वही है जिसे यह विराट मानव-चित्त धारण करता है। वस्तुतः श्री रवीन्द्र की धारणा या आस्था आत्मचैतन्य में है। वे मानते हैं कि जड़ धरती में चेतन अव्यक्त रूप से समाया हुआ था। यही आत्मतत्व के नाम से जाना जाता है। इसमें अनन्तानन्त ऊर्ध्वमुखी, पूर्णतोन्मुखी सम्भावनाएँ हैं जो व्यक्त होने के लिए जड़ से संघर्ष करती रहती हैं। यही ऊर्ध्वमुखी अनन्तानन्त सम्भावनाएँ जड़ता से संघर्ष करती हुई अन्ततः विजयिनी बनती हैं और वनस्पतियों के रूप में उसकी छाती फोड़कर ऊपर आ जाती हैं। वह सम्भावना यहीं नहीं रुकती—और आगे बढ़ती है और पुनः प्राणी के रूप में मूर्त होती है। वह सम्भावना और आगे बढ़ती है और ऐसे यन्त्र से सम्पन्न प्राणी के रूप में, मानव के रूप में विकसित होती है, जिसमें मानवेतर प्राणी से कुछ विशेष उभरता है, जिन्हें हम मानवीय विशेषताएँ कहते हैं। यह विशेषता मानव की रागात्मक सत्ता की परिधि के विस्तृत रूप में उद्भूत होती हैं, जिसमें विश्व-व्यापी होने की सम्भावना रहती है। मानवस्तर पर विकसित उक्त विशेषता सम्पन्न चेतना में जगद्रक्षकत्व और जगद्रञ्जकत्व की सम्भावना होती है, यही ईश्वरत्व है। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि मानव के विकास की सारी प्रक्रिया चूँकि उसी चेतन के आत्मप्रसार की प्रक्रिया है, अतः वह इसी अनुभव के माध्यम से आत्मा को, चरमसत्य को समझ पाता है। इसीलिए श्री रवीन्द्र ने आइंस्टाइन से कहा था कि सत्य मानवीय अनुभव से ही पाया जा सकता है और समझा भी जा सकता है। भारतीय चिन्तकों ने इसीलिए कहा है—

"अनुभूत्यैकमानाय"

वह एकमात्र अनुभूति से ही गम्य है। आइंस्टाइन का विरोध था, वह कहता था कि सत्य स्वतः सिद्ध है और उसका सम्बन्ध या उसके समझने का सन्दर्भ कोई मानवीय अनुभव का सन्दर्भ नहीं है। मानवानुभव की उसे अपेक्षा नहीं है। इसीलिए

डॉ.हजारीप्रसाद द्विवेदी उनका आशय व्यक्त करते हुए कहते हैं—परमसत्य को हम जितना और जैसा कुछ उपलब्ध करते हैं, वह असल में उसके उस रूप के माध्यम से ही करते हैं, जिसे उसने अभिव्यक्त किया है। चूँकि इस समस्त विश्व के रूप में भीतर से वही, उसी की सम्भावनाएँ खुल रही हैं अतः उसी प्रक्रिया से वह जाना जा सकता है। यदि उसे जानना है, तो इसी विश्व के भीतर से ही उसे जाना जा सकता है, इसे छोड़कर नहीं जाना जा सकता। वे गलत कहते हैं, जो इसे छोड़कर उसे जानने की बात करते हैं। ईशावास्योपनिषदकार ने कहा—

अन्धतमः गच्छन्ति येऽविद्यमुपासते।
ततोऽपिते भूय इव ये विद्यायां रताः॥

वे अन्धकूप में पड़ते हैं जो अविद्या की उपासना करते हैं, पर उनसे भी अधिक अन्धकूप में वे जाते हैं जो अविद्या को छोड़कर केवल विद्या में ही लीन हो जाते हैं—अतः—

विद्यां च विद्यां च यौ वेद उभयंसह।
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमनुश्ते।

जो विद्या के साथ अविद्या को भी ठीक-ठीक समझ लेता है—वह अविद्या से मृत्यु का सन्तरण करता हुआ विद्या से अमरता को पा लेता है।

संसार के रूप में सत्य अपनी अभिव्यक्ति करता है—और वह विराग से नहीं असंकीर्ण राग से पाया जाता है :

वास्तव में यह विश्व उसी चरमसत्य की सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति है, फलतः वह असत्य और अग्राह्य नहीं हैं। हाँ, अनादिकाल से एक गलतफहमी जरूर हमारे पीछे लग गयी है, जो इस विश्व का अन्यथाप्रत्यय कराती है, जो 'अहन्ता', 'ममता' की संकीर्ण तथा भेदगर्भ भावना पैदा करती है, 'यूनिवर्सल मैन' को व्यष्टियों में विभक्त कर पार्थक्य प्रत्यय कराती है। सत्य यह है कि पिण्डगत प्रतीत एकता में जैसे अनन्त परमाणु पुंज पुंजीभूत रहते हैं और वे एक से ही अन्तर्गत माने जाते हैं उसी प्रकार विराट मानव की ही अंगभूत व्यष्टियाँ हैं--जो तत्वतः एक होकर भी गलतफहमीवश अपने को भिन्न मानती रहती हैं। इससे हमारी सत्ता का रागात्मक रूप भी संकीर्ण हो जाता है। इस संकीर्णता से भी चरमसत्ता की यही रागात्मक विशेषता उभरती है और व्यक्तिबद्ध न होकर, विश्व पर फैल जाती है—विश्वात्मक हो जाती है। वास्तव में अपने को पाने का रास्ता, यही रागात्मक रास्ता है, वैराग्यात्मक नहीं। श्री रवीन्द्र कहते हैं, 'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय' वैराग्य साधना से उपलब्ध होनेवाली 'मुक्ति' हमारी मुक्ति नहीं है, उनके यहाँ परिवार से, समाज से, राष्ट्र से, विश्व से होनेवाला राग ही पुण्य है। रागात्मक सत्ता के प्रसार की ही सहज परिणति है स्वगत ईश्वरत्व पर्यवसायी सम्भावित विशेषताओं की चरितार्थता। राग के माध्यम से अनन्त सम्भावनाओं की चरितार्थता ही मुक्ति है। यह मुक्ति 'साल्वेशन आर्मी' की

मुक्ति नहीं है, जो पुरस्कार रूप में मिलती है। ईश्वरत्व पर्यवसायी सम्भावनाओं का दर्शन श्रम में होता है, निष्ठा और ईमान में होता है, एक-दूसरे के प्रति आकर्षण में होता है—पदार्थ भावना में होता है, ममता में होता है—ईश्वर यहीं वास करता है, इनसे दूर किसी कल्पित कोने में नहीं। रागात्मकता का विस्तार विश्व के दुखियों के दुखों को अनुभव करने की सहानुभूतिमयी आँख देता है। इस आँख का खुलना ईश्वरत्व का खुलना है। रवीन्द्र की यह आँख खुली हुई है, इसीलिए उन्हें विश्व का करुण क्रन्दन, शोषितों और पीड़ितों की कराह निरन्तर सुनायी पड़ती है, अतः उनकी प्रतिमा इन्हीं आवाजों से एकरस लक्षित होती है।

रवीन्द्र की दृष्टि में मुक्ति या स्वतन्त्रता का अर्थ

उनकी दृष्टि से 'स्वाधीनता' उस भय से मुक्ति पाना है जो स्वगत अनन्तानन्त सम्भावनाओं को मूर्त होने में आड़े आती है—परतन्त्रता मन का यही बन्धन है, इसी से मुक्ति पाने का अर्थ है—स्वतन्त्र होना। निर्भय व्यक्ति ही स्वतन्त्र हो सकता है और निर्भय वह है जिसके लिए 'दूसरा' है ही नहीं—वही वह है। श्रुति कहती है :

'द्वितीयाद्वैभयं भवति'

जिस व्यष्टि के बीज के तार उस समष्टि मानव के सुर से सम्वादी हो गये, वह मुक्त हो गया। इस यूनीवर्सल मैन से एकरस होने पर जिस सामंजस्य का अनुभव होता है, वही सौन्दर्य है। व्यक्ति से व्यक्ति का जहाँ तक असामंजस्य है, वही कुरूपता है, जहाँ वह मिटकर समंजसता ला देती है, वहीं सौन्दर्य है। साहित्य इसी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है। जीवन, जिसके माध्यम से वह अपने को व्यक्त करता है, वह केवल खाने-पीने-भर का नाम नहीं है। जीवन वह शक्ति है जो वर्तमान के आवरण को अन्तहीन भविष्य की ओर मोड़ती है। जीवन वह शक्ति है जो अंकुरित के भीतर से पुष्प होकर और पुष्प के भीतर से फल होकर फूटती है और वृत्ताकार यात्रा करती है।

इस प्रकार रवीन्द्र के साहित्यिक और सर्जक व्यक्तित्व के माध्यम से जो सांस्कृतिक नवजागरण की चेतना विस्फोट की भाँति व्यक्त हुई है उसमें उपजीव्य औपनिषद वाङ्मय में निहित अनन्तानन्त सम्भावनओं से संवलित मूल्य रत्नों की नवनवयुगोपयोगी व्याख्याएँ विस्फुटित हुई हैं।

द्विवेदीजी और उनका 'चिन्मुख मानवतावाद'

हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व अनुवंश और परिवेश के गुणनफल का अतिक्रमण था, तभी उसमें सर्जक की स्तुत्य सम्भावनाएँ उभर सकीं। वह स्रष्ट्रत्व ही क्या, जो वैज्ञानिकों के जोड़-गुणा में आबद्ध हो जाय और जो आबद्ध हो जाय, जिसकी सीमाएँ उत्तान हों—वह स्रष्टा कैसा? द्विवेदीजी एक संस्कारी ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। परिवेश के रूप में जहाँ एक ओर महामना मालवीय और उनके विश्वविद्यालय का प्राच्य विद्या-विभाग परम्परागत वैदुष्य का उनमें बीज-वपन कर रहा था वहाँ दूसरी ओर कवीन्द्र-रवीन्द्र का शान्तिनिकेतन प्रयोगगर्भ आधुनिकता को संक्रान्त कर रहा था। 'परम्परा' और 'प्रयोग' का पाथेय लेकर सारस्वत क्षेत्र में पनपा हुआ यह उन्मुक्त व्यक्तित्व अपनी समस्त सम्भावनाओं के फलीभूत भार से झुक गया था। उनकी विनम्रता अत्यन्त विलोभनीय थी। वे अजात-शत्रु भी थे। आज उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं है, परन्तु सारस्वत शरीर से वे अमर हैं, यह उनके तप की परिणति है। वे कहा करते थे कि लोगों को पढ़-लिखकर 'मनुष्य' हो जाना चाहिए। मनुष्यत्व की अशेष सम्भावनाओं को उपलब्धि का रूप देना चाहिए और हो जाते हैं—पण्डित, वाक्यज्ञान के भारवाहक। मनुष्य जब सर्जक बनता है—तब और सबकुछ खाद बन जाता है। और उसका सम्भावित रचनाकार प्रजापति की विराट् योजना का अंग बन जाता है। अपने आपको गलितद्राक्षा की भाँति निचोड़कर आत्मदान कर देता है उस विराट् स्रष्ट्रत्व के प्रति समर्पित हो जाता है—यह उसकी सबसे बड़ी साधना और सबसे बड़ा तप है, यही मनुष्यता की चरितार्थता है। और इसी चरितार्थता के निमित्त उसका सारा अर्जन और सारा उद्योग है। इस चरितार्थता से बढ़कर और कुछ नहीं है। मनुष्य में ही यह क्षमता है, इसलिए उससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है, ऐसा कहा गया है। जब-जब हमारी साधना ने इस सत्य की उपलब्धि की है, तब-तब वह अपरिमेय कण्ठ से बोल उठी है—

"न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्"

एक बार इसे व्यास ने कहा, दुबारा चण्डीदास ने गाया और तिबारा द्विवेदीजी का रोम-रोम निनादित होता रहा, उनका सारा साहित्य इसी स्वर की साधना है।

सुननेवाले अपना कान लगाकर सुन सकते हैं। सर्जक की साधना तभी पूर्ण होती है, जब वह सर्जना की महाशक्ति में अपने को विलीन कर दे। इससे अनन्त और अपरिमेय सम्भावनाओं की महाशक्ति सक्रिय हो जाती है और सर्जक माध्यम-भर रह जाता है। आनन्दवर्द्धन ने कालिदास के सर्जक महाकवि की स्वरूप-व्याख्या करते हुए यही कहा है। श्री अज्ञेय ने 'असाध्यवीणा' से इसी सत्य की अभिव्यक्ति की है—भारतीय औपनिषद कामधेनु से दुही गयी गीता का भी यही केन्द्रीय सन्देश है। इलियट में भी सब कहीं यही चिन्तन झनझना रहा है। द्विवेदीजी संस्कृत वाङ्मय के सागर को, अगस्त्य की भाँति पान कर चुके हैं और उससे परिपुष्ट स्वकीय स्रष्टा व्यक्तित्व को गलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर साहित्य की गंगा प्रवाहित कर देते हैं। उनके शोध और आलोचन उनकी सर्जना के अंग हैं—उनका सर्जक व्यक्तित्व सर्वोपरि है। द्विवेदीजी ने कहा है, एक कवि को सम्बोधित करते हुए—देखा कवि, साहित्य में सर्जनात्मकता ही परम सत्य है। आलोचना का सत्य दूसरे दर्जे का है, लेकिन दुनिया की चाल उलटी है, यह झूठ को या दूसरे दर्जे के सत्य को सबसे ऊपर मान लेती है। लोग भी यही कहते हैं और द्विवेदीजी के विषय में कहते हैं कि वे शोधी और आलोचक से सर्जक कहीं अधिक हैं। वे अपने निबन्धों और उपन्यासों में जितना उन्मुक्त और रसमय व्यक्तित्व को शतधार प्रस्फुटित कर सके हैं—शोध और आलोचना में नहीं। कभी-कभी लोग इसे इस प्रकार व्यक्त करते हैं - न जाने किसने इस उक्ति को चला दिया—

शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति।

जिसकी मति शास्त्र-शोध और आलोचन में कुण्ठित हो जाती है—वह कवि बन जाता है अर्थात् शास्त्रकार से सर्जक छोटा है। निश्चय ही यह उक्ति शास्त्रीय शुष्क पाण्डित्य के लिए अपेक्षित बौद्धिक श्रम के महत्त्व से अभिज्ञ, किन्तु बड़ी सर्जना के प्रति समर्पित होकर, माध्यम बन जाने की गहन साधना से अपरिचित व्यक्ति की है। द्विवेदीजी के आदि और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के शोध और आधुनिक साहित्य के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचन से जो लोग गुजर चुके हैं, वे जब उनके सर्जनात्मक साहित्य के रम्य उद्यान में प्रवेश करते हैं, तब उन्हें लगता है कि द्विवेदीजी का समस्त अध्ययन, मनन, शोध-आलोचन, उनकी सर्जनात्मकता का अंग है। उन्होंने शोध और आलोचन के लिए शोध और आलोचन नहीं किया, अपितु सर्जन के लिए शोध और आलोचन किया। उनके वक्तव्य की बृहद अर्थ में सार्थकता, इन सबसे गुजर जाने के बाद जान पड़ती है। ऐसा नहीं कि शोध-क्षेत्र को उनकी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका,' 'आदिकाल', 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' आदि कृतियाँ उपलब्धि-शून्य हैं, 'कबीर' 'सूरसाहित्य' जैसे प्रायोगिक और 'साहित्य सहचर' जैसे सैद्धान्तिक आलोचन अपनी मर्मस्पर्शिता के कारण अपने क्षेत्र के शिखरस्पर्शी ग्रन्थ नहीं हैं, आधारभूत संस्कृत के साथ प्राकृत-अपभ्रंश-अवहट्ट भाषाबद्ध साहित्य की उनकी पैठ साधारण है—नहीं, प्रथम स्तर की प्रतिभा जिस दिशा में दौड़ लगाती है—उसी में अपना स्थान बना लेती है। लेकिन द्विवेदीजी की यह सब अर्जना, अपना समर्थ

पर्यवसान सर्जना में करती है, सर्जना आत्मदान है और इसीलिए सर्वोपरि है।

कहा जाता है और द्विवेदीजी स्वयं कहते हैं कि अतीत के शब्द को यदि ठीक ढंग से साधा जाय तो वह हमारी प्रगति में साधक बन जाता है और साधना में कहीं कचाई रह जाय तो विक्षुब्ध शव हमें ही हड़प जाय। महाशक्ति शव के वक्षस् पर कलात्मक नर्तन-सर्जन की सारी सम्भावनाएँ बिखेरती रहती है। बात यह है कि द्विवेदीजी प्राचीन भारतीय साहित्य के अगाध पण्डित हैं, अतीत का साक्षात्कार उसी के माध्यम से करते हैं। सवाल यह है कि इस साक्षात्कृत 'अतीत' के 'शव' का वह करें क्या ? उन्हें विश्वास है कि उस 'अतीत' के 'शव' की साधना ढंग से की जाय, तो वह वर्तमान और भविष्य को अभीष्ट दिशा में परिवर्तित कर सकती है। वर्तमान की विकृति को अनुध्यात सुरूपता में बदलने की तड़पन प्रत्येक सर्जक को होती है और इस परिवर्तन के लिए साधना करनी पड़ती है। द्विवेदीजी अतीत की साधना करते हैं। इतिहास देवता की आराधना करते हैं। वे इस आराधना में महाकवि रवीन्द्र की आधुनिक दृष्टि का उपयोग करते हैं—वैसे 'दृष्टि' स्रष्टा की अपनी होती है। द्विवेदीजी भी उनकी ज्ञान-दृष्टि से अपनी ज्ञान-दृष्टि, सर्जक-दृष्टि को बल देते हैं। कवीन्द्र की सर्जक चेतना मध्यकालीन वैष्णव चेतना का ही आधुनिकीकरण है—द्विवेदीजी में भी कबीर और तुलसी के माध्यम से वह जागरूक है—इसीलिए सेवाभाव में मानवता की चरितार्थता माननेवाले प्रेमचन्द उन्हें सबसे अधिक नजदीक लगते हैं। द्विवेदीजी को हिन्दी साहित्य के 'ये ढाई अक्षर' (कबीर और तुलसी पूरे दो और प्रेमचन्द आधा) हृदयग्राही लगते हैं—मानवता के पक्षधर हैं ये। इस मध्यकालीन मानवीय वैष्णवी चेतना का आधुनिकीकरण ही शव साधना है। यदि उस चेतना को यथास्थितिवादी रूप में ही ग्रहण किया जाय, तो मध्ययुग में ही जाना होगा—अतः वर्तमान में उसे उपयोगी बनाने के लिए, उसकी युगोचित सम्भावनाओं को पकड़ना होगा, वर्तमान विघटनोन्मुख जीवन प्रवाह की विकृतियों के उपचार-रूप में उसका उपयोग करना होगा। न तो हम अतीत को ज्यों-त्यों दुहरा सकते हैं और न ही उसकी सम्भावनाओं की अमृतशक्ति का साक्षात्कार कर, उसका निषेध कर सकते हैं। द्विवेदीजी अपने निबन्धों तथा उपन्यासों में इस मार्मिक सत्य को बार-बार दुहराते हैं। सत्ता के प्रवाह की नियति है बासी होना। यह बासीपन जब टूटता है, तब उसे जीवन का सच्चा प्रवाह कहा जाता है। 'पुनर्नवा' में आचार्य पुरगोभिल कहते हैं—"अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा, तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी व सामाजिक व्यवस्थाएँ ऐसी ब्रह्म रेखा नहीं है जो मिट ही नहीं सकतीं। इसलिए धर्म की रक्षा के लिए निरन्तर विचार करते रहने की आवश्यकता है ताकि सुचिन्तित दृष्टि से परिवर्तन लाया जा सके, विरूपता या जड़ता को सुरूपता या गति में ढाला जा सके।" एक तरफ मध्यकाल रूढ़ियों और विचार के चौखटे से ग्रस्त है, दूसरी ओर उसी काल में वैष्णवी चेतना का औदात्य भी है। सर्जक इस चेतना के औदात्य से जड़ता को परास्त करता है। द्विवेदीजी महावराह के पौराणिक मिथक से भी

यही ध्वनित करते हैं। जलौघ मग्ना सचराचरा धरा की भाँति मध्यकालीन भारत रूढ़ियों के महाप्रलय में, अनैतिक शक्तियों के पंजे में अवरुद्ध है। समानान्तर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मौखरियों के अन्तःपुर में भट्टिनी अवरुद्ध हैं। वह स्वयं को मुक्त करती हैं और अमृतपुत्रों को प्रोद्बोधित करती हैं, प्रतिरोधी शक्तियों से अपने को मुक्त करने के लिए। कहा जाता है क्लासिकल साहित्य में चेतना का औदात्य भी होता है और आवृत्त होते रहने की जड़ता भी। सर्जक पहली को पकड़कर, दूसरी को तोड़ता है। द्विवेदीजी साहित्य के माध्यम से यही करते हैं। उन्होंने वैष्णवी चेतना का रवीन्द्र की छाया में इसी तरह का आधुनिकीकरण किया है।

मैं बार-बार जो वैष्णवी चेतना की बात करता हूँ—इतिहास की शव साधना के सन्दर्भ में उसे समझ लेना चाहिए। जीवन और समाज में सर्जनात्मक क्षमता के उपयोग के बारे में साहित्य रचना की बात पदार्थवाद-मार्क्सवाद भी करता है और चिदानन्दवाद भी करता है। पदार्थवाद का आक्षेप है कि चिदानन्दवाद केवल विश्व को समझने का दर्शन देता है, पदार्थवाद उसकी व्याख्या तो करता ही है--परिवर्तन —अभीष्ट परिवर्तन, समाज के लिए इसी शरीर और धरा पर सुख-शान्तिदायक परिवर्तन की दिशा भी निर्दिष्ट करता है। द्विवेदीजी इन दोनों में से चिदानन्दवादी दर्शन का ही सहारा लेते हैं। पदार्थवाद 'प्रगति की रेखा सीधी' मानता है, चिदानन्दवाद 'वृत्ताकार'। पदार्थ द्वन्द्वात्मक विकासवादी है, अतः वह अतीत का पुनरावर्तन मान ही नहीं सकता, चाहे जितना भी परिष्कार हो, वह उत्तरोत्तर विकासवाद का पक्षधर है। चिदानन्दवाद पूर्णतावादी है, उसके चित् में निरन्तर युग-युगान्तरोपयोगी संभावनाएँ हैं—चिन्तन द्वारा उसका साक्षात्कार करना चाहिए और इस प्रकार अतीत के शव की आराधना करनी चाहिए। वह निश्चय ही जड़ता को तोड़ने में सहायक होगा। द्विवेदीजी इस चिदानन्दवाद के समर्थन में कहते हैं, अपनी 'सहज साधना' में, मनुष्य के सारे आचरण का मूलतत्त्व यह है कि जो आचरण चिन्मूल है, वह श्रेष्ठ है। जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चिन्मय स्तर प्रभावित होता है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य का समस्त आहार-विहार, समस्त मन और प्राण चिन्मुख होकर सार्थक होता है। वे मानते हैं कि सन्तों और भक्तों की वाणी मनुष्य पर मशीन के प्रभुत्व का प्रत्याख्यान करती है और इस बात पर जोर देती है कि जड़ोन्मुखी यान्त्रिकता नहीं, बल्कि चिन्मुखी मानवता ही बड़ी चीज है। सिर्फ मानवतावाद एक अस्पष्ट और लक्ष्यहीनतत्त्ववाद है, चिन्मुखी मानवता का सिद्धान्त स्पष्ट और सोद्देश्य विचारवाद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल केवल मानवतावाद की बात करते हैं--क्योंकि बुद्धिवाद आगे जा नहीं सकता, और वे भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड मर्मज्ञ होते हुए भी साहित्य के क्षेत्र में बुद्धिवादी थे। मानवता परदुःख-कातरता का ही दूसरा नाम है, पर इसके साथ जीने में जिन मूल्यों का मूल्य स्वार्थार्थ पशुता के माहौल में चुकाना पड़ता है, उससे जीवन सरिता सूख जाती है, उस सूखे में कहीं से अमृत बरसने की सम्भावना नहीं रहती है। चिन्मुखी मानवतावाद में मूल्य, मूल्य के लिए महज कर्त्तव्य-बोधवश नहीं जिये जाते। उसकी

परिणति मनःशुद्धि में होती है और मनःशुद्धि से अमृत चिदानन्द का स्रोत खुल जाता है। जीवन भर जाता है। उसकी चिरागत सुखाकांक्षा तृप्त हो जाती है।

मध्यकालीन या प्राचीन वैष्णवी चेतना का आधुनिकीकरण उनकी सर्जक प्रतिभा का पाथेय है, इसकी उपपत्ति में उनके सारे उपन्यास साक्षी-भर रहे हैं। वैष्णवी चेतना--मध्यकालीन वैष्णवी चेतना—एक ओर लोक या जगत् को आराध्य का सगुण रूप मानती है और दूसरी ओर रागात्मक सत्ता के प्रसार से उसकी आराधना को दिखाती है। रागतत्त्व के दमन की अपेक्षा उसके उदात्तीकरण तथा चिन्मयीकरण पर बल देती है। प्रेम को चरमतत्त्व और समस्त समस्याओं का एकमात्र निदान मानती है। 'अनामदास का पोथा' में द्विवेदीजी कहते हैं—तुम्हारा स्वभाव प्रेम है। उसके माध्यम से तुम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो—यहाँ साध्य ही जब साधक का आत्मदान पाकर स्वयं साधन बन जाता है—तभी 'सत्य' पकड़ में आता है। इस प्रकार द्विवेदीजी अपने चिन्तन को आधुनिक बनाते हैं और चिन्मुखी मानवतावाद की पताका फहराते हैं। साहित्य को भी वे इसी मनुष्यता की उपलब्धि में सहायक मानते हैं। वे कहते हैं—मनुष्य को देवता बताना ही काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है। मनुष्य को उसकी स्वार्थबुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्वगुण में प्रतिष्ठित करना, परदुःखकातर और सम्वेदनशील बनाना काव्य का काम है। साहित्य के माध्यम से उनका सर्जक इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है, चिन्तन के इसी महारस के पान से उनका साधक अवधूत सर्जक, झुलसती लू में भी शिरीष की तरह फूलता रहा, देवदारु की तरह उन्नत आकाश का स्पर्श करता रहा। वह कहता रहा—सर्वत्र आत्मानुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है दूसरों के सुख के लिए अपने आपको गलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर दे देना। इससे बड़ा तप मुझे मालूम नहीं—द्विवेदीजी साहित्य के सर्जन के माध्यम से यही तप करते हैं।

चिद्वाद : द्विवेदीजी के उपन्यासों के सन्दर्भ में

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के दर्शन को ऊपर 'चिन्मुख मानवतावाद' संज्ञा प्रदान की गयी है। सम्प्रति, यह द्रष्टव्य है कि उनका चिद्वाद भी किस कोटि का है? विशेषकर उनकी औपन्यासिक कृतियों के साक्ष्य पर। 'अनामदास का पोथा' में उन्होंने प्रकारान्तर से स्वीकार किया है कि मानवीय मूल्यों के आचरण का पर्यवसान विश्वमंगल के साथ-साथ विश्वात्मक और विश्वातीत चिदानन्द में, सुख में होना चाहिए। भारतीय चिन्तनधारा में चिद्वाद भी एक प्रकार का नहीं है, अनेक प्रकार का है। चिद्वाद या आत्मवाद ही नहीं, यहाँ तो नैरात्म्यवाद भी है। 'प्रसाद'जी के शब्दों में वह अहंकारमूलक हो या अन्यथा, यह दूसरी बात है। द्विवेदीजी देहादि-भिन्न चिन्मय आत्मवाद में विश्वास रखते हैं। आत्मवाद का भी वह पक्ष इन्हें

मान्य है, जो अद्वैत का पक्षधर है। अद्वैत भी अनेकविध हैं—श्रुति विरोधी, और श्रुतिसम्मत। एक अद्वैत का विकास या पल्लवन आगमों में मिलता है, जिसमें श्रुतियों का भी अनुमोदन सिद्ध किया जाता है। इसकी संज्ञा है—द्वयात्मक अद्वय। इस भेद-गर्भ अभेद की उपपत्ति 'शक्ति' की कल्पना से ही सम्भव है। श्रुति एक तरफ 'द्वितीयाद् वैभयंभवति' कहकर द्वैत को निषेध्य और अवांछित समझती है और दूसरी ओर 'स एकाकी ना रमत', 'सद्वितीयमैच्छत्' कहकर उसे विधेय और वांछित भी बताती है। इस विरोधाभास के निवर्तन का एक ही मार्ग है, ब्रह्म की स्वरूपशक्ति का प्रकल्पन। इसकी सहायता से वही द्वितीय हो जाता है—अतः भिन्न न होने से भय भी नहीं और द्वितीय होने से एकाकीपन भी नहीं। द्विवेदीजी की 'संकोच प्रसारात्मिका स्वरूप शक्ति' द्वयात्मक अद्वयवाद का मेरुदण्ड है। अपने उपन्यासों में उन्होंने इसी धारा का अनुगमन किया है।

समस्त मध्यकाल ही नहीं, अपितु 'राग' तत्व का विरोध करनेवाली हीनयानी बौद्ध धारा, जैनधारा तथा बौद्ध प्रभावापन्न, शांकर धारा के विरोध में 'राग' तत्व की सम्भावनाओं का आत्यन्तिक आख्यान करनेवाला पूरा भारतीय साधना-प्रवाह ही 'प्रेमा पुमर्थोमहान्' के रूप में चरमतत्वात्मक प्रेम रूप पुरुषार्थ की घोषणा करता आ रहा है। मध्यकाल की साधना में यह धारा उद्वेल होकर प्रवाहित होती रही। स्वयंसिद्ध सत्य का साक्षात्कार इस अन्तःप्रज्ञामयी रागात्मिका शक्ति से ही सम्भव है। मध्यकाल की कोई भी धारा हो, सभी इस शक्ति का नामान्तर से उल्लेख करती हैं। निर्गुण काव्यधारा उसे 'कुण्डलिनी' या 'मालिक की मौज' के नाम से, सूफी 'सिफात' धारा के रूप में, कृष्णधारा 'राधा' तथा रामधारा 'सीता' रूप अन्तरंगाह्लादिनी शक्ति के रूप में विज्ञापित करती हैं। निष्कर्ष यह है कि शक्तिदर्शन या राग-दर्शन एक ही वस्तुतत्व है।

मध्यकाल की इसी वैष्णवी चेतना का नवजागरणकाल में नयापन लक्षित होता है। इसी चेतना से जगत् का, समाज का, लोकमंगल का, मानवता का, मानुषभाव का, प्रवृत्ति का और सर्वोपरि स्वस्थ राग का हर स्तर पर समर्थन होगा। कवीन्द्र-रवीन्द्र का सारा लेखन इस गन्ध से आपूरित है और आचार्य द्विवेदी में भी गुरुदेव की वह चेतना संक्रान्त है। इसीलिए उनकी रचनाओं में वही वैष्णवी चेतना के अनुरूप अपने को गलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर आराध्य के प्रति सर्वस्व समर्पण का भाव पदे-पदे मिलता है। रैक्व इसी निकष पर जाबाला के प्रति उत्पन्न कामना का परीक्षण करता है। 'पुनर्नवा' में इसी नयेपन की बात देवरात कहता है। देवरात की धारणा है कि यही शक्ति बासीपन को हटाकर नवता का संचार करती है—पुनर्नवीकरण इसी का विलास है। वे कहते हैं—"पुनर्नवा[1] देवि! तुम नित्य नवीन होकर मानस-पटल पर उदित होती हो। जानती नहीं, किस मर्मवेदना को जगा जाती हो, किस बासी भाव को नया कर जाती हो। देवरात स्वयं मुरझा गया है, उसमें पुनर्नवा को स्वायत्त करने की क्षमता नहीं है। पुनर्नवा बन-कर नित्य आती रहो। तुम्हारा थोड़ा कष्ट किसी को हरा कर जाय, तो क्या हर्ज

है देवि ! नहीं, तुम नित्यनवीन होकर हृदय में उतरा करो।" 'नवजागरण' में भारत की चेतना इसी 'पुनर्नवा' शक्ति का आह्वान या आवाहन कर रही है, उसी से समदिक् समुन्नयन सम्भव है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की निपुणिका हो या भट्टिनी अथवा 'चारुचन्द्रलेख' की सातवाहन की रानी चन्द्रलेखा--सर्वत्र नारी-शक्ति का अशरीरी स्वस्थ प्रेम, त्याग, समर्पण, उपासना और प्रवृत्ति का स्वर मुखर होकर श्रुतिगोचर होता है। सम्प्रति, एक-एक उपन्यास को दृष्टिगत रखकर स्रष्टा की 'दृष्टि' का विवेचन उपक्रान्त हो रहा है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में एक कौलाचार्य अघोर भैरव 'बाबा' है, जिसके समक्ष जब भैरवियों द्वारा बाणभट्ट लाया जाता है, तो बाबा बाणभट्ट के विषय में कहता है--"यह 'पशु' नहीं जान पड़ता, किन्तु 'वीर' भी नहीं है।" बाबा ने भट्टिनी को भुवनमोहिनी कहा है, और कहा है भट्टिनी को ही लक्षित कर : "त्रिपुरसुन्दरी ने जिस रूप में तेरे मन को लुभाया है—उसे साहसपूर्वक स्वीकार क्यों नहीं करता ?"[2] महामाया के इस प्रश्न पर "अधिकारी है आर्य ?" बाबा उत्तर देते हैं—"महामाया, यह देखो, इसकी कुण्डलिनी जाग्रत है।"[3]

इसी प्रकार अमोघवज्र द्वारा लौटाया हुआ विरतिवज्र, जब बाबा के पास आता है तो बाबा उसमें निहित सम्भावना की परीक्षा लेते हुए कहते हैं--

"बुद्ध और वद्ध का भेद भूलने में तुम्हें रस आता है ?
पुरुष और स्त्री का भेद तुम भूल सकते हो ?"

विरतिवज्र के सकारात्मक और नकारात्मक उत्तरों से प्रतीत होता है कि उसकी साधना 'शक्ति' के बिना नहीं चल सकती। यदि उसमें हीनयानसम्मत 'नैरात्म्य' भावना की प्रवृत्ति होती, तो वह स्त्री-पुरुष का भेद भूल जाता और अनासक्त होता, पर ऐसा नहीं है अतः उसमें (वासना-शोधन) कौलधारा की साधना ही सम्भावित है। बाबा कहता है—"देखो, न तो[4] प्रवृत्तियों को छिपाना उचित है, न उनसे डरना कर्तव्य है और न लज्जित होना युक्तियुक्त है। इतनी बात गाँठ बाँध लो, फिर गुरु के उपदेश पर चलते रहो। आज तुम चक्र में एकत्र बैठ सकते हो" और कहा "किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं। मन्त्र याद है न ?" अन्ततः वह उस चक्र में आमन्त्रित किया जाता है जहाँ अघोर-भैरव अपनी महामाया के साथ तथा अन्य साधक भैरव भी अपनी साधिकाओं के साथ बैठे थे। ये सभी निर्वस्त्र, पार्श्व में लालवस्त्र से ढँका मदिरा पात्र। कारण-पात्र से सबके पात्र भरे जा रहे थे। मन्त्र जपा जा रहा था।

महामाया भैरवी की धारणा है कि यह सारा विश्व प्रकृति-पुरुष की लीला है। पुरुष और स्त्री उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। वह कहती है—"तू क्या अपने को पुरुष समझ रहा है और मेरे को स्त्री ? यही प्रमाद है। मुझ में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए मैं स्त्री हूँ। तुझमें प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है—इसलिए तू पुरुष है। यह लोक की प्रज्ञप्ति प्रज्ञा है, वास्तविक सत्य[5] नहीं।" ये सब प्रसंग और विचार सिद्ध करते हैं कि

आगमसम्मत अद्वयवाद में द्विवेदीजी की आस्था कितनी है ? एक और भी प्रसंग है जो इसकी पुष्टि करता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भट्टिनी उदात्त पात्र है और उसकी दृष्टि में कालिदास ने भुवनमोहिनी के गौरव को हृदयंगम किया था। पुरुष की महत्वाकांक्षा को एकमात्र नियन्त्रित करनेवाली[6] शक्ति नारी है। कालिदास ने इस रहस्य को पहचाना है और दुष्यन्त तथा शिव—दोनों को शक्ति के चरणों में झुकाया है।

'चारुचन्द्रलेख' मध्यकालीन तन्त्र-मन्त्र की भूत-भैरवी साधना व जंजाल ने किस प्रकार भारतीय राष्ट्र को हतदीप्ति कर दिया—इसी का सफल आख्यान प्रस्तुत करना है। इस कृति में द्विवेदीजी ने कहा है—"सौगत और शाक्त तन्त्रों ने मनुष्य की रीढ़ ही तोड़ दी है। गोरखनाथ ने इस निर्वीर्य साधना की गलती को बहुत पहले ही समझ लिया था, पर हाय, किसी ने उनकी सुनी नहीं।" तन्त्रवाद का यह अधःपतन था। इस अधोमुखी रूप से तन्त्रवाद का उद्धार किया वैष्णव साधकों ने। उन्होंने समर्पण का मार्ग पकड़ा और इसी के द्वारा जिस 'भक्ति' रूपी पंचम पुरुषार्थ की उपलब्धि की, वह तत्वतः 'शक्ति' ही थी। नाटी माता इसी दिशा की साधिका है। उसकी धारणा है —"मेरे भावों ने ही इस विभावपुरुष की कल्पना की है। यदि भाव सत्य हों, तो अभाव स्पष्ट हो जाते हैं और सारे अभावों को भर-कर यह विभावपुरुष अपना रूप परिग्रह करते हैं। ऐसा लगता है कि बहुत भटकने के बाद मेरे मन में इन विभावपुरुष ने जैसा रूप परिग्रह किया है वही मेरी चरितार्थता है।"[7] आगे इस धारा को और भी स्पष्ट करती हुई रानी कहती है—"नाटी माता[8] कहती है कि तुम्हारे भीतर जो अभाव है, वह जब स्पष्ट हो जायेगा, तो परमप्रेयान् उस अभाव के विग्रह में ही तुम्हें अनुगृहीत करेंगे। वह विग्रह इस रससाधना में विभाव बनेगा।" इस चिन्मुखी रस साधना के विपरीत अभिचार के द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले घुण्डकेश्वर को फटकारता हुआ सीदी मौला कहता है—"उसमें बड़ी भेद बुद्धि है। मूर्ख यही नहीं समझ पाया, देवी किसी बाहरी देवता का नाम नहीं है, वह हमारी अन्तरतर की सत्ता का नाम[9] है।" इससे स्पष्ट है कि उनमें 'शक्ति' के प्रति आस्था है, उसके बहिर्मुख तथा भेद-गर्भ आभिचारिक साधना में अनास्था है।

'पुनर्नवा' में 'नारी' और 'शक्ति' की उनकी क्रमागत धारणा अक्षत है। बाणभट्ट तथा चारुचन्द्रलेख की भुवनमोहिनी यहाँ भी विद्यमान है। कवि चन्द्रमौलि कहता है—"मेरे हृदय में जब अकारण भयंकर ज्वाला धधकने लगती है तो मैं अनुभव करता हूँ कि इस विराट् विश्व में व्याप्त शिव और शक्ति की जो अनादि लीला चल रही है, वह उससे अलग नहीं होनी चाहिए।"[10] 'उज्जयिनी' संज्ञा का रहस्य स्पष्ट करते हुए चन्द्रमौलि कहता है कि शक्ति की आराधना से शिव ने त्रिपुरविजय की थी। इसीलिए यह नगरी विजयिनी या उज्जयिनी है। विन्ध्याटवी का सिद्धबाबा नारी में 'भुवनमोहिनी' त्रिपुरसुन्दरी का ही दर्शन करता है और कहता है—"तेरे भीतर भुवनमोहिनी का निवास है। उनकी त्रैलोक्य-सौभगा लीला

तेरे भीतर खेल रही है।"[11]

और, अन्ततः अब 'अनामदास का पोथा' को भी लें। इस उपन्यास में हृदय-पक्ष के चरमोत्कृष्ट विकास की प्रतिष्ठा की गयी है।

रैक्व 'वायु' का उपासक था। वायु को ही, प्राण को ही वह चरम सत्य मानता था। जनक की दृष्टि में, याज्ञवल्क्य की दृष्टि में वह आंशिक सत्य था। आंशिक सत्य भी चरम सत्य का विरोधी नहीं होता। औषस्तिपाद ने कहा — जो ब्रह्माण्ड में वायु है, वही पिण्ड में[12] प्राण है। वह गतिमात्र है। वह चेतन का एक गुण हो सकता है, पर स्वयम् चैतन्य नहीं है। इतिहासविधाता ने इस जड़तत्व से और भी सूक्ष्मतर तत्व प्राणतत्व को प्रकट किया है—उसके भीतर उससे भी सूक्ष्म मनस्तत्व, उसके भी भीतर उससे सूक्ष्मतर बुद्धितत्व—विज्ञान। यह सत्य से असत्य को अलग करती है। बुद्धि के इसी धर्म का नाम है विवेक। जानना ही सब कुछ नहीं है, उसे आचरण में लाना 'धर्म' है, इसीलिए बुद्धि का एक और विकसित कार्य है—वैराग्य। जो गलत है उसका त्याग वैराग्य है। विवेक हो सकता है, वैराग्य कठिन है। गलत-सही जानना सरल है, पर गलत को छोड़ पाना सरल नहीं है। असत्य को छोड़ देने पर केवल सत्य ही बचता है। इसीलिए विधेय केवल त्याग है, सत्य तो स्वयंसिद्ध है।

स्वयंसिद्ध होने पर भी सत्य को पाने के लिए कोई दृढ़ अवलम्ब चाहिए। वही सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म है। प्राण, मन, विज्ञान उसी की सूक्ष्म, सूक्ष्मतर अभिव्यक्ति है। उसी की अभिव्यक्ति के ये वाहन हैं—इसीलिए ये मूल्यवान् हैं, अन्यथा निरर्थक हैं। प्राण[13] या प्राणों की रक्षा निखिलात्मा परम वैश्वानर की तृप्ति के लिए है।

स्वयंसिद्ध सत्य क्या है, इस तक पहुँचने के लिए मनुष्य की अन्तरात्मा में विधाता ने 'प्रज्ञा' नामक एक शक्ति दी है, यह अनुभव कराती है। यह 'सत्य' बुद्धि का नहीं 'बोध'[14] का विषय है, अनुभव का विषय है, किंवा यह स्वयं अनुभव है—यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म (अपरोक्षानुभूति ही ब्रह्म है)। शान्त और स्थिर होने पर उसकी झलक मिलती है—वह दरवाजे पर दस्तक दे रहा है—लोक उसके स्वागत के लिए दरवाजा ही नहीं खोलता। उस परम प्रेमी की उपेक्षा हो रही है। जो कुछ भी अन्तः बहिःकरण गोचर है, वह सब उसी की अभिव्यक्ति है, अतः पकड़ लो उसी को जो तुम्हें खींचता हो — प्रिय लगता हो, सुन्दर जान पड़ता हो, लेकिन वही अन्त नहीं है—वह आकर्षक तत्व अंगुलिनिर्देश मात्र है उस महासत्य तक पहुँचने का।

ब्रह्म साक्षात्कार या स्वयंसिद्ध सत्य की पहली सीढ़ी यही प्रिय का ध्यान होना चाहिए। ब्रह्म साक्षात्कार[15] किसी रूप का आधार लिये बिना नहीं हो सकता, तो क्यों न उसी रूप को आधार बनाया जाय, जो प्रिय हो।

याज्ञवल्क्य ने जिस मधुविद्या का उपदेश दिया था, यद्यपि वह और भी पुराना है। अथर्वणदध्वङ् ने अश्विनी कुमारों को जो उपदेश दिया था, वह[16] यही है, जिसका इंगित ऊपर किया गया है। दध्वङ् ने कहा था—"यह भूमि, यह जल, यह अग्नि, यह वायु, यह आकाश, यह सूर्य, ये दिशाएँ, यह चन्द्रमा, ये तड़तड़ाते मेघ,

सब प्राणियों को मधु समान प्रिय हैं और सब प्राणी इन्हें भी मधु समान प्रिय हैं, क्योंकि उनमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष व्याप्त है, वही इस पिण्ड में आत्मारूप में विद्यमान है—वही स्वयंसिद्ध है। वही इस पिण्ड में आत्मारूप में विद्यमान है। वही स्वयंसिद्ध सत्य है। आत्मा ही अमृत है। आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा ही सब कुछ है; नहीं तो ये सब पदार्थ सबको प्रिय नहीं होते और न ही सभी प्राणी इन पदार्थों को प्रिय होते।

'इतना ही नहीं मित्र, यह जो मनुष्य-भाव है, प्रेम है, मैत्री है, चाह है, अभिलाषा है, तड़प है, व्याकुलता है यह मनुष्य-भाव भी सब प्राणियों को मधु समान प्रिय है। इस[17] मानुष-भाव में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वह समष्टि रूप ब्रह्माण्ड का आत्मा है। भिन्न-भिन्न व्यष्टियों में जो तेजोमय पुरुष है, वह व्यष्टि-पिण्ड का आत्मा है। आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही ब्रह्मा है, आत्मा ही सबकुछ है।"

'अनामदास का पोथा' के ऋषि और ऋषिकाएँ आत्मा या स्वयंसिद्ध सत्य को सब तरफ से पाने को व्याकुल हैं। एक ऋषिका रैक्व को समझाती है—"यह क्या चीज है जो विनाशमान पदार्थों के बीच अविनश्वर है—'विनश्यत्यविनश्वरो-दुर्निवार जिजीविषा।'—जिसे लोग आत्मा कहते हैं वह इसी जिजीविषा के भीतर होना चाहिए। भयंकर रोगग्रस्त शिशुओं में जो सम्भावनाएँ हैं—ज्ञानी और उद्यमी बनने की—ये क्या हैं? यदि ये न होतीं तो जिजीविषा भी न होती। आत्मा इन्हीं अज्ञात अपरिचित-अनुध्यात सम्भावनाओं का[18] द्वार है। ऊपर से लगता है—'सम्भावना', जिजीविषा' से 'आत्मा' का क्या सम्बन्ध, पर गहराई में जाने पर अनन्त सम्भावनाओं का द्वार वही 'प्रकृति' ज्ञात होगी। सम्भावनाओं को रोकने का स्वप्न देखनेवाला अज्ञ है। प्रकृति को सुनियन्त्रित रूप में चलाने का नाम ही संस्कृति है।

"हाँ, तो जो यह स्वयंसिद्ध सत्य है—मधु है, परमप्रिय है—व्यापक सत्य है—स्वभाव उसके अनुकूल हो जाय तो सात्विक प्रस्थान का उस गन्तव्य तक पहुँचाने का आरम्भ हो जाता है। तुम्हारा स्वभाव प्रेम है, उसी के माध्यम से तुम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो।"[19]

ऊपर जिस मानुस-भाव की बात कही गयी है, उसमें जो सबसे अधिक मधुर है, वहाँ से प्रस्थान कर शुभारम्भ होना चाहिए। शुभा भी तो परम वैश्वानर के ही तेजोमय अमृतमय रूप का आश्रय है। निस्सन्देह वह तुम्हारा अपना, नितान्त निजी[20] सत्य है, पर उसी रूप को पकड़कर, उस परम वैश्वानर को पकड़ो, जो सबका सत्य है, सत्य का सत्य है। तेरा व्यक्ति-सत्य यही है—हर आदमी का अपना व्यक्ति-सत्य होता है। यह सत्य यदि विश्वव्यापी सत्य के साथ एकमेक नहीं हो जाता तो तुम्हारा मार्ग[21] रुद्ध करेगा, तुम्हारा व्यक्तिगत प्रेम परम वैश्वानर के प्रेम की पहली सीढ़ी है। रैक्व को यह भी बताया गया कि अब तक वह केवल चिन्तन-मनन करता था, उसका ध्येय उसके सामने नहीं था—शुभा के रूप में उसका ध्येय सामने है। यह ध्येय इतना प्रबल है कि चिन्तन-मनन, क्रिया-कर्म सबको ठेलकर सामने आ

जाता है।

सत्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। जिसे ज्ञान नहीं होगा, वह सत्य को कैसे पा सकेगा।[22] ज्ञान मनन के बिना नहीं हो सकता, मनन श्रद्धा के बिना असम्भव है, श्रद्धा निष्ठा के बिना बनी नहीं रह सकती और निष्ठा केवल सोचते रहनेवाले के बस की बात नहीं। जो कर्मण्य नहीं, वह निष्ठावान् भी नहीं। कर्म किसी सुख की आशा के बिना नहीं किया जाता—ऐसा सनत्कुमार का मत था। भूमा ही स्वयंसिद्ध सत्य है और वही सुख है—आनन्द है।

सुखात्मा वैश्वानर, स्वयम् सिद्ध सत्य की 'शुभा' जैसे प्रतीक के बिना प्राप्ति नहीं हो सकती। रैक्व के अन्तस् की बेचैनी आश्वलायन के समक्ष व्यक्त हो जाती है। वह शुभा से 'विवाह' का प्रस्ताव करता है। रैक्व अपनी आध्यात्मिक यात्रा से विवाह की संगति नहीं बिठा पाता। बेचैनी के शान्त होने का रास्ता विवाह में मिलेगा या वैश्वानर की अपरोक्षानुभूति 'प्रज्ञा' के माध्यम से करने में ?

आश्वलायन बताता है कि विवाह भी सामगान है और उसका रहस्य प्रजापति ने इन्द्र को समझाते हुए कहा है—"विवाह में जो आपसी बातचीत होती है वही हिंकार है, सबको सूचित करना प्रस्ताव है, पति-पत्नी का साथ शासन उद्गीथ है, अलग-अलग शमन प्रतिहार है, प्रेमपूर्वक जीवन[23] बिताना निधन (व्रतसमाप्ति) है। इस प्रकार प्रेमी-युगल के रूप में (स्त्री-पुरुष) वामदेव्य साम पिरोया हुआ है। यही पंचविध वामदेव्य साम है। वास्तव में विवाह भी एक व्रत है। वस्तुतः पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—एक तो ऐसा कामजन्य सम्बन्ध, जो धर्म-संगत नहीं होता। यह आध्यात्मिक विकास का बाधक है। दूसरा, जो धर्मसंगत है, जिसे शास्त्र में विवाह कहा गया है। भगवान कृष्ण ने गीता में इसकी महिमा गायी है—

"धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि भरतर्षभ"

तीसरा है उद्वाह[24]। उद्वाह भी धर्मसंगत होता है, पर उसमें पति और पत्नी दोनों परस्पर एक दूसरे को ऊपर की ओर वहन करते हैं–परस्पर की आध्यात्मिक चेतना को परिष्कृत करते हैं। सो, यदि ऐसी पत्नी मिले, जो आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाय, तो उससे 'विवाह' नहीं, 'उद्वाह' करना चाहिए। रैक्व और जाबाला दोनों इसी पथ के पथिक हैं। विवाह के लिए पाणिग्रहण होता है और उद्वाह के लिए उपोद्ग्रहण। उपोद्ग्रहण मुख का होता है, वह मौखिक होता है। जटिल मुनि से यह नया और समन्वधी प्रकाश रैक्व को मिला—वे ध्यानमग्न हो गये। इस समाधि में उन्हें नया अर्थ दिखायी पड़ रहा था। मल और आवरण हटने जा रहे थे—इन्द्रिय प्राण में, मन बुद्धि में और आत्मानन्द में अनायास प्रवेश करने को व्याकुल हैं। इन्हें पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकरूपता आज ज्ञात हो रही है। महर्षि औषस्तिपाद और जटिलमुनि के वक्तव्यों का विरोधाभास शान्त हो रहा है। महर्षि ने कही थी उस 'प्रज्ञा' की बात, जो स्वयंसिद्ध सत्य का अनुभव कराती है और आश्वलायन ने ऊर्ध्वयात्रा के लिए कही थी बात—'शुभा' के साथ 'उद्वाह' की। रैक्व की दुविधा

शान्त हो गयी। उसे लगा—'शुभा ही तो प्रज्ञा'[25] है। आज हृदय के सभी दरवाजे खुल गये हैं—'प्रज्ञानंब्रह्म'। भीतर का देवता —मार्गदर्शक 'शुभा' ही तो है। वही तो प्रज्ञा है। शक्ति है। परमवैश्वानर की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति शुभा ही है। रैक्व के मनोमन्दिर में दो ही खेल चल रहे हैं। कभी देवता प्रिय बन रहा है और कभी प्रिय देवता। एक क्षण में परमवैश्वानर शुभा बन रहे हैं और दूसरे क्षण में शुभा परमवैश्वानर। अल्प भूमा और भूमा अल्प बन रहा है। यही संकोच और प्रसारण की लीला[26] है। यही प्राण: अपान द्वन्द्व है, यही केन्द्रानुगा तथा केन्द्रायगा शक्ति का द्वन्द्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत कृति में औपनिषद मन्थन का नवनीत अपेक्षित क्षमता के साथ प्रस्तुत हुआ है।

मूल प्रश्न द्विवेदीजी के चिद्वाद का था और वह भी उनके उपन्यासों के साक्ष्य पर। ऊपर उनके चारों उपन्यासों का विश्लेषण किया गया है और पाया गया है कि भुवनमोहिनी अपना सौन्दर्य नारी में संक्रान्त कर पुरुष को बाँधती है, आकृष्ट करती है। पुरुष को चाहिए कि वह उस बन्धन को मुक्ति का साधन बनाये—उसी रूप के संकेत से 'मूल' तक पहुँचने का व्रत ले—'अल्प' और 'भूमा' के द्वन्द्व को समरस बना ले।

स्पष्ट ही यह विचारधारा, जिसमें अन्त:प्रज्ञा और रूपवती नारी को एक कर 'शक्तिमान्' से समरस होने की बात कही जा रही है—आगमिक अद्वयवाद के अनुकूल पड़ती है। वहाँ भी 'शक्ति' का स्वरूप संकोच प्रसारमय स्पन्दात्मा कहा गया है। दृष्टान्त से बताया गया है कि जिस प्रकार पुरीषोत्सर्ग के बाद बड़वा अपने वराङ् का संकोच प्रसार करती हुई आनन्दमग्न होती है, उसी प्रकार शक्ति की संकोच प्रसारात्मक मुद्रा आनन्द की अवस्था है। परस्पर विरोधी दिशाओं में गतिमान की शक्ति की धारा को एक धारा में कर लेना ही द्वन्द्वातीत होना है। निष्कर्ष यह कि द्विवेदीजी 'चिन्मुख मानवतावादी' हैं और उनका चिद्वाद आगमसम्मत अद्वयवाद है, जिसका मेरुदण्ड 'शक्ति' है, शक्तिमान् की स्वरूपभूता चिदानन्दमयी शक्ति। यही पुनर्नवा है, बासी को ताजा करती है, क्योंकि वह अनन्त सम्भावनाओं से संवलित है, वही जीवन के रूप में व्यक्त हो रही है।

सन्दर्भ

1. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : पुनर्नवा, पृ. 246
2. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 86
3. वही, पृ. 78
4, वही, पृ. 80

5. वही, पृ. 87
6. वही, पृ. 112
7. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : चारुचन्द्रलेख, पृ. 62
8. वही, पृ. 73
9. वही, पृ. 84
10. वही, पृ. 106
11. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : पुनर्नवा, प्रथम संस्करण 1973, पृ. 103
12. वही, पृ. 190
13. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : अनामदास का पोथा, प्रथम संस्करण 1976, पृ. 58
14. वही, पृ. 149
15. वही, पृ. 150
16. वही, पृ. 135
17. वही
18. वही, पृ. 136
19. वही, पृ. 87
20. वही, पृ. 80
21. वही, पृ. 137
22. वही
23. वही, पृ. 148
24. वही, पृ. 142
25. वही, पृ. 174
26. वही, पृ. 163
27. वही. पृ. 182

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी निबन्ध की प्रवृत्तियाँ और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का योगदान

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश में एक ऐसी विभाजक रेखा है, जिसमें स्वतन्त्र भारत की समस्त सम्भावनाएँ और राष्ट्रगत बहुमुखी विकास की कल्पनाएँ अन्तर्भुक्त हैं। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति, अर्थतन्त्रीय व्यावसायिकता, व्यामोहग्रस्त वैचारिक नेतृत्व की विविधता, प्रतिक्रियावादी शक्तियों से नेताओं में अनुचित समझौते की पद्धति, उत्तरोत्तर राष्ट्र के तथाकथित उन्नायकों की स्वार्थपरता, उग्र-उग्रतर होती हुई राष्ट्रघाती क्षेत्रीयता की भावना, नैतिकता की अपेक्षा भौतिक समृद्धि की ओर झुकाव, उत्सर्गशील नेतृत्व का अभाव आदि क्षयिष्णु तथा विघटनकारी स्थितियों ने उस कल्पना और सम्भावना को साकार नहीं होने दिया। इस संक्रान्तिकालीन मन्थन से अभी तक तो हलाहल ही निकला है, वैसे प्रत्याशा राष्ट्र के अन्तस्तल में अमृत की अवश्य है; कारण, विश्व की प्रकृति सर्जनात्मक है—विध्वंस तो उसकी पीठिका है। इसलिए ज्ञात-अज्ञात रूप से वैचारिक और व्यावहारिक मन्थन निरन्तर सक्रिय है।

राष्ट्र का चिन्तक व्यक्तित्व राष्ट्र के हृदय के स्पन्दन को, उसकी धड़कन से निकलते स्वर की दिशा को उपेक्षित कैसे कर सकता है और उपेक्षित न करने का अर्थ है, उस पर अपनी गम्भीर वैचारिक प्रतिक्रिया व्यक्त करना। यह वैचारिक प्रतिक्रिया शुष्क और निस्संग भी हो सकती है और सर्जनात्मक भी। यहाँ सर्जनात्मक विचारणा अथवा साहित्यिक निबन्ध की प्रवृत्तियों का स्वातन्त्र्योत्तर सन्दर्भ में विचार प्रक्रान्त है।

हिन्दी में साहित्यिक निबन्ध नवविकसित आधुनिक गद्यविधा है। निबन्ध का मेरुदण्ड प्रौढ़ विचारणा है—ज्ञान की परिणत चेतना है। साहित्येतर क्षेत्र में निबन्ध विचार के क्षेत्र से निकलता है—बोध के धरातल से फूटता है और वस्तुमुखी पद्धति पर निस्संग ढंग से विचार के ही क्षेत्र में पर्यवसित हो जाता है, परन्तु साहित्य के क्षेत्र में निन्बध की यात्रा बोधात्मक और भावात्मक—व्यक्तित्व के घटक उभयविध धरातलों पर होती है। यहाँ निस्संगता के विपरीत 'निजीपन' या 'आत्मीयता' का भी संश्लेष अनिवार्य है। निजी दृष्टिकोण के आलोक में सम्पाद्य यह बौद्धिक यात्रा हृदय के रम्य प्रदेशों को पार करती है, अपनी सर्व-

ग्राह्यता के लिए कलात्मक प्रौढ़ि की अपेक्षा करती है, प्रेरणा-पर्यन्त जीवितावधि होने के कारण अपने बाह्य कलेवर में वह लघु होती है। दृष्टिकोण का यह निजीपन जितना ही प्रौढ़, परिणत, उदग्र तथा प्रभावी होगा, निबन्ध उतना ही उत्कृष्ट होगा। वैसे 'निबन्ध' शब्द प्रयोग में इतना शिथिल ढंग से चलने लगा है, इतनी व्यापक और विविध भूमियों पर प्रयुक्त होने लगा है कि उसको परिभाषित करना असम्भवप्राय हो गया है। किसी भी सर्जनात्मक विधा को उसकी विकासशील विशेषताओं के साथ किसी परिभाषा के चौखटे में बाँध रखना भी सम्भव कहाँ है? तथापि बिना स्थिरता के विचार सम्भव नहीं है—अतः परिभाषित तो करना ही पड़ता है।

निबन्ध के 'व्यक्तित्वव्यंजक' या 'ललित' रूप से आगे बढ़कर जब हम उसके विषयप्रधान या विचारात्मक साहित्यिक निबन्ध को 'निबन्ध' कहने की दिशा में आगे बढ़ते हैं तब इस पद्धति पर साहित्यिक कृति या साहित्यिक मानदण्डों पर भी व्यक्त वैचारिक चेतना 'निबन्ध' की परिधि में आने लगती है। इसीलिए नन्ददुलारे वाजपेयी की प्रेरणाप्रसूत निजीपन झलकाती हुई लिखी गयी लघुकाय आलोचनाएँ लोगों द्वारा निबन्ध कही जाने लगती हैं। स्वयं वाजपेयीजी स्वीकार करते हैं कि उनकी आलोचनाएँ प्रेरणा के क्षणों में निबन्धोचित मानस संगठन से निकली हुई हैं। वस्तुतः यह सही भी लगता है कि निबन्ध के अन्य विषयों की भाँति साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमान भी निबन्धकार के निबन्धनीय विषय हो सकते हैं, फिर उसे आलोचना की जगह हम निबन्धात्मक आलोचना कहने लग जाते हैं। स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को कहना पड़ा है—'श्रव्यकाव्य, दृश्यकाव्य, कथात्मक गद्यकाव्य, काव्यात्मक गद्य और प्रबन्ध आदि सभी प्रकार की रचनाओं की मार्मिक समीक्षा या व्याख्या भी निबन्ध है।' इस तरह की मान्यता का स्पष्ट कारण है, क्योंकि वे मानते हैं—'बुद्धि के अनुसन्धान, क्रम या विचार परम्परा द्वारा ग्रहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक का व्यक्तित्व, व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी तरह झलकती हैं।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी आलोचना और निबन्ध के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर कुछ ऐसा ही कहते हैं—'समालोचना केवल साहित्यिक ग्रन्थ तक ही सीमित नहीं रहती। संसार के विविध पदार्थों को मनुष्य की बुद्धि से समझने का वह प्रयत्न करती है। यह प्रयत्न जब केवल सूक्ष्म तर्क और बौद्धिक विकास से आगे बढ़कर मनुष्य की भावनाओं और अनुभूतियों को आश्रय करके प्रकट होता है तो उसमें साहित्यिकता आ ही जाती है। साहित्यिक कृतियों की आलोचना में भी हमने इस प्रकार का भावमिश्रण लक्ष्य किया है। प्रायः कविता को देखकर भावमदिर भाषा में प्रकट किये गये उद्गम देखने को मिलते हैं। वस्तुतः इनको साहित्यिक समालोचना न कहकर व्यक्तिगत निबन्ध कहना उचित होगा।' और आगे बढ़कर वे यह स्वीकार करते हैं—'निबन्ध लेखक भी वस्तुतः एक समालोचक ही है। उसकी समालोचना पुस्तकों की नहीं होती, बल्कि उन वस्तुओं की होती है जो पुस्तकों का विषय है।' निष्कर्ष यह कि

जिस प्रकार समालोचना का क्षेत्र साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमान से इतर भी है वैसे ही निबन्ध का विषय भी अन्य विषयों की भाँति साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमान भी हो सकते हैं। शर्त इतनी ही है कि आलोचना या विवेचना निबन्धोचित मानस के साँचे से प्रसूत हों—अर्थात् आलोचक निजी दृष्टि-कोण के आलोक में अपने व्यक्तित्व के रागात्मक और बोधात्मक—दोनों घटकों के साथ गृहीत विषय पर अपनी ज्ञानात्मक चेतना का आलोक उँड़ेल रहा हो। वस्तुतः निबन्धोचित मानस-साँचे से निकलनेवाली आलोचना को विवेचन या बौद्धिक चिन्तन ही कहना चाहिए—अन्यथा आलोचना को निबन्ध और निबन्ध को आलोचना कहकर दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व को खतरे में डाल देना होगा। निबन्ध सृष्टि है—निबन्धकार उसमें आत्मप्रक्षेप करता है—आलोचना तटस्थ होकर की गयी वैचारिक प्रतिक्रिया है। निबन्ध में निबन्धकार किसी भी विषय को लेकर ऊहापोह करने में स्वतन्त्र है, आलोचक का विषय पूर्व निश्चित है—वह कृति के मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार कर उसी का निस्संग विवेचन करता है। सम्भव है आलोचना की इस निबन्धात्मक प्रकृति से खिन्न होकर ही आलोचना के वस्तुमुखी रूप के पक्षपाती 'स्टाइलिस्टिक्स' की आवश्यकता प्रतिपादित करते हों। अस्तु ! प्रसंगान्तर न करके मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि निबन्ध निजी दृष्टिकोण की छाया में व्यक्तित्व के रागात्मक पक्ष के साथ किसी भी विषय पर की गयी वैचारिक प्रतिक्रिया या वैचारिक अभिव्यक्ति है। विचारधारा का होना आवश्यक है—चाहे वह क्षीणकाय हो या अक्षीण, चाहे वह 'विषय' को नियन्त्रित करती हो या विषय से नियन्त्रित होती हो। पहला प्रकार विषयीप्रधान और दूसरा विषयप्रधान है। विषयप्रधान निबन्ध विचारात्मक ही नहीं, भावात्मक, वर्णना-त्मक और कथात्मक भी होता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी निबन्ध विचारात्मक, आलोचनात्मक और व्यक्तित्वव्यंजक ही अधिक है। जहाँ एक ओर विचारात्मक निबन्ध आलोचनात्मक निबन्ध को आत्मसात् करता चलता है वहीं दूसरी ओर व्यक्तित्वव्यंजक निबन्ध अन्य लघुकाय नव्यतम गद्यविधाओं की भंगिमाओं और पद्धतियों को आत्मसात् करता चलता है। व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धों में संवाद, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, संस्मरण आदि के रंग भी कभी-कभी उभर आते हैं, पर ये सब रहते हैं उसके कलेवर के ही अभेद्य अंग।

मैं इस स्थापना से सहमत हूँ कि कवियों की कसौटी गद्य है और गद्यकारों की कसौटी निबन्ध। निबन्ध, जैसा कि ऊपर परिभाषित किया गया है, समर्थ गद्य की माँग करता है। कारण, निजीपन को निकालकर वह इस प्रकार भाषा के माध्यम से रखता है कि तमाम सामान्यों को चीरता, लाँघता, अतिक्रान्त करता हुआ निबन्धकार का व्यक्तित्व अलग ही दिखायी पड़े। 'निबन्ध' की वही कला सिद्ध मानी जायगी जो विषय को स्पष्ट कर दे और लेखक के व्यक्तित्व को भी न छिपने दे—उजागर कर दे। पं. विद्यानिवास मिश्र के इस वक्तव्य में उक्त चिन्तन का ही रस मिलता है कि 'सहृदयता और चिन्तनशीलता ही निबन्धकार के बन्धन

हैं—'उन्मुक्त व्यक्तित्व' ही इस बन्धन से छुटकारा है।'

जिस प्रकार निबन्ध के लिए प्रौढ़ भाषा की अपेक्षा होती है उसी प्रकार मुक्त चिन्तन (फ्री थिंकिंग) की भी। विषय के साथ-साथ विषयी की पहचान करानेवाले सामर्थ्य का उदय जब तक भाषा में न हो जाय, तब तक गद्य के माध्यम से 'निबन्ध' कैसे लिखा जा सकता है। भाषा के साथ-साथ दूसरा तत्व है—निबन्धकार के लिए अपेक्षित उन्मुक्त व्यक्तित्व के अनुरूप उन्मुक्त चिन्तन। असल में भारतेन्दु युग उल्लास, उमंग और जिन्दादिली का युग था—वहाँ निबन्धोचित वैचारिक गाम्भीर्य नहीं मिलता। द्विवेदी युग 'परिष्कार' या 'औपदेशिक प्रचार' का युग था। द्विवेदीजी के प्रभाव में उभरनेवाले 'वृत्ति परिष्कारी' पक्ष को निबन्धोचित गम्भीर वैचारिक पीठिका दी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने। जिस प्रकार विषय या विचारप्रधान निबन्धों के लिए अपेक्षित वैचारिकता को प्रौढ़ि और गम्भीरता शुक्लजी ने प्रदान की, उसी प्रकार व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धों को अपेक्षित उन्मुक्त चिन्तन दिया आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने। 'अशोक के फूल' संग्रह का प्रकाशन-वर्ष वैसे 1947-48 ही है—लिखे चाहे ये निबन्ध पहले ही गये हों। उन्मुक्त चिन्तन में 'विषय' का नियन्त्रण नहीं होता। उन्मुक्त चिन्तन को एक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदी ने कहा है कि जैसे सितार या वीणा के एक तार को छेड़ने पर और तार भी झनझना उठते हैं - उसी प्रकार व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार की मानस वीणा के गृहीत-विषय-विषयक चिन्तन-सूत्र को छेड़ते ही अन्तःसम्बन्ध सूत्र से जुड़े हुए न जाने कौन-कौन-से प्रसुप्त संस्कार झनझनाने लगते हैं और उसी निबन्धोचित मानस-प्रवाह के साँचे में पूरा निबन्ध ढल जाता है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी निबन्धकारों में कुछ तो पहले से ही लिखते चले आ रहे निबन्धकार हैं और कुछ स्वातन्त्र्योत्तर। इनमें से कुछ प्रतिष्ठित हो चुके हैं और कुछ सम्भावनाओं के हैं—कुछ व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धकार हैं और कुछ विषयप्रधान। एक धारा है आलोचनात्मक अर्थात् साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमानों को विषय बनाकर किसी-न-किसी दृष्टि से विवेचन करनेवालों की। आरम्भ इस धारा का भी भारतेन्दु से ही हो गया था, पर उत्तरोत्तर इसमें भी प्रौढ़ि आती गयी।

व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धकारों की प्रतिष्ठित पंक्ति में हैं—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं. विद्यानिवास मिश्र तथा कुबेरनाथ राय। सोचने-विचारने का 'बँधा' हुआ तरीका साहित्येतर क्षेत्र में काम देता है। बँधे हुए तरीके से मेरा मतलब 'विषय' से तो 'बँधा' होना है ही, पक्ष-प्रतिपक्षपूर्वक लौह-शृंखला में बँधकर सोचना भी है। बँधा हुआ चिन्तन अन्य लोगों की चिन्तन राशि को आत्मसात् कर अपनी बुद्धि को उन्हीं सूत्रों पर दौड़ाना भी है। स्वच्छन्द चिन्तन के लिए भी बुद्धि शक्ति अर्जित करती है—इसी पूर्ववर्ती व्यवस्थित चिन्तन के अखाड़े से, किन्तु उससे प्राप्त सामर्थ्य के संचार में चिन्तक स्वच्छन्द होता है। स्वच्छन्द होता है

अर्थात् आत्मसात् की गयी ज्ञानराशि का उपयोग वह जहाँ जैसा चाहे वहाँ वैसा कर लेता है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं. रामावतार शर्मा जैसे धुरन्धर विद्वानों के निबन्धों में स्वच्छन्द चिन्तन की पराकाष्ठा होनी चाहिए, अन्यों की अपेक्षा थोड़ा-बहुत है भी—इनके निबन्ध उस गरिमा से दीप्त हैं भी—परन्तु उनसे स्वल्पाधीत स्वातन्त्र्योत्तर इन प्रतिष्ठित निबन्धकारों में मुक्तचिन्तन की जो छटा दृष्टिगोचर होती है, वह उक्त आचार्यों के निबन्धों में नहीं है। वैसे ये प्रतिष्ठित निबन्धकार भी साधारण श्रुत नहीं हैं, बहुश्रुत हैं—जिसकी साखी भरते हैं इनके निबन्ध। शास्त्रीय और बँधे हुए ज्ञान का उपयोग इन लोगों ने भी किया है पर उसमें इनकी मौलिकता स्पष्ट झलक जाती है। शुक्लजी में भी अधीतज्ञान राशि की बुद्धिवादी पीठिका पर निजी लोकमंगलवादी रुचि के आलोक में अपनी नूतन व्याख्या प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता है, पर ये हैं विषयप्रधान निबन्धकार। इनका चिन्तन (सब्जेक्टिव थिंकिंग) 'विषय' से नियन्त्रित है। इसीलिए कुछ लोग इन्हें आत्मधर्मी समीक्षक कहना चाहते हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी इसी धारा के निबन्धकार हैं। यद्यपि शुक्लजी की मान्यताओं का वे विरोध करते हैं, पर शुक्लजी की भाँति इनके चिन्तन की भी सीमा साहित्य ही है—साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमान ही हैं—अन्य कुछ है भी तो वह अपनी आलोचक दृष्टि का स्पष्टीकरण। इसी आलोचनात्मक निबन्धकारों की परम्परा में धर्मवीर भारती, कुट्टिचातन, मुक्तिबोध आदि की परिगणना की जानी चाहिए। इन सबमें समानान्तर प्रवहमान सर्जनात्मक साहित्य—विशेषकर कविता—से सम्बद्ध कृति की आलोचना अथवा सैद्धान्तिक विवेचना है। दोनों महायुद्धों की विभीषिका से साहित्य और संस्कृति तथा इन दोनों के संवाहक मानव के समक्ष संकटों, गतिरोधों, विसंगतियों और अन्य क्षयिष्णु वृत्तियों के अम्बार लग गये हैं। शुक्लजी की अपेक्षा इन चिन्तकों का धरातल और भी अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ, अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तन-स्तर से परिचय, अपने चिन्तन की इन व्यापक भूमियों पर संचार इस युग की विशिष्ट प्रवृत्ति है।

व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धकारों में पहले आचार्य द्विवेदी को ही लें। अर्जित ज्ञान से उत्पन्न बौद्धिक क्षमता का स्वेच्छ संचार मौलिक विनियोग आचार्य शुक्ल में भी है और आचार्य द्विवेदी में भी। पर शुक्लजी अपने 'रसवाद' और 'लोकमंगलवाद' के वृत्त में बँध गये। वैसे पुरातन मान्यताओं की बुद्धिवादी और विश्वसनीय मौलिक व्याख्याएँ अपनी विशिष्टता लिये हुए हैं। उनकी 'मानवता' की ही व्याख्या को लें—उस स्थापना, उस सम्पूर्ण चिन्तन की तह में भारतीय संस्कार, अर्जित ज्ञान की सम्पत्ति भी निहित है और विकासवादी चिन्तनराशि भी, पर इस सारी सामग्री का उपयोग ने अपनी 'दृष्टि' से की गयी व्याख्या में कर लेते हैं। उनकी व्याख्या है कि चेतना निम्नतम प्राणियों के स्तरों से गुजरती हुई मानवस्तर तक आकर अपने भीतर जिस व्यावर्तक विशेषता का आविष्कार कर लेती है या कर सकी है वह है—सामाजिक भावना, परहित भावना, औचित्यानौचित्य की भावना। मानव-

गत चेतना में यह सम्भावना उदित है कि वह अपनी रागात्मक सत्ता का विस्तार सारी सृष्टि तक कर सके। यह सम्भावना मानवेतर प्राणियों में निहित चेतना के अन्तर्गत नहीं थी। इसी स्वच्छन्द चिन्तन के क्रम में भारतीय अध्यात्मवाद और डार्विन के विकासवाद, दोनों का उपयोग करते हुए भी वे दोनों से भिन्न, पर नयी हृदयग्राही और इसीलिए विश्वसनीय तथा मौलिक व्याख्या कर सके। उनकी दृष्टि में "स्वानुभूत्यैकमानायानन्त चिन्मात्रमूर्त्तये" की व्याख्या परम्परा से हटकर है। इसी प्रकार उनके निजी चिन्तन (सब्जेक्टिव थिंकिंग) का रमणीक रूप धर्म, भक्ति, ईश्वर तथा मानवता आदि की व्याख्या में ही नहीं, साहित्यशास्त्र की क्रमागत पदावलियों की व्याख्या में भी देखा जा सकता है।

आचार्य द्विवेदी भी 'मानवता' की व्याख्या करते हैं पर उन पर भारतीय अध्यात्मवाद तथा विकासवाद, अन्तश्चेतनावाद आदि की निष्पत्तियों को आत्मसात् कर चलनेवाले अरविन्द दर्शन का प्रभाव है। चेतना का विकास ये भी मानते हैं, पर अरविन्द की भाँति 'पदार्थ' या 'जड़' के भीतर सुप्त और ऊर्ध्वमुखी विकास के लिए संघर्षशील 'चेतना' की बात करते हैं। शुक्लजी के बुद्धिवाद में 'चेतना' पदार्थ का विकार हो सकती है, पर द्विवेदीजी के यहाँ 'पदार्थ' में व्याप्त 'चेतना' है, जो अपने स्वभाव में ऊर्ध्वमुखी है, फलतः 'पदार्थ' से संघर्ष करती हुई उसे चीरकर बाहर वनस्पति तथा जीवों के रूप में व्यक्त होती है। मानव-स्तर पर व्यक्त चेतना का ऊर्ध्वमुखी रूप ही 'मानवता' है। यही साहित्य में 'अखण्ड एकता' या 'रसानुभूति' है और व्यवहार में मनुष्य की चरितार्थता है। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व-व्यंजक निबन्धों में स्पष्ट देखा जा सकता है कि किस तरह बजाया जाता है विषय के मिजराब से एक तार, और झनझना उठते हैं न जाने कौन-कौन। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'—प्रश्न अबोध बालिका के सहज स्वभाव से समुच्छ्वसित होता है—पर उत्तर धीरे-धीरे गहराता जाता है और संस्कार में संचित ज्ञान का—विविध-विध ज्ञान का—स्वतःस्फूर्त संचार अपने ढंग से निबन्धोचित मानस के सहज प्रवाह में हो जाता है। 'इण्डिपेंडेंस' की तुलना में 'स्वतन्त्रता' की व्याख्या करते हुए द्विवेदीजी भारतीय और पश्चिमी चिन्तन-सरणियों का अन्तर बताने लगते हैं, जो साधार होने से विश्वसनीय बन जाता है। कहाँ 'सहजातवृत्तियाँ' और कहाँ 'स्वतन्त्रता' तथा 'इण्डिपेंडेंस'; कहाँ 'पशुता'; कहाँ 'जड़ चेतन का संघर्ष'; कहाँ 'मानवता की ऊर्ध्वमुखी चेतना'—सब स्वच्छन्द चिन्तन की आँच में स्वयं पिघल-पिघलकर, ढलक-ढलककर ही निबन्धोचित आकार में ढलने लगते हैं, एक ही क्षीणकाय वैचारिक सूत्र में बँधने लगते हैं। शैलियों में भावनात्मकता, विवरणात्मकता, उन्मुक्तता, संस्मरणात्मकता—सबका उपयोग कर लेते हैं पर ये सब स्वच्छन्द चिन्तन की अग्निमयता में ऐसे एकरस शैली में मिल जाते हैं कि अपनी विजातीयता ही खो देते हैं। उनका यह उन्मुक्त चिन्तन, अर्जित ज्ञानराशि का स्वेच्छ संचार उनके उपन्यासों तक में व्याप्त है। नव प्रकाशित उपन्यास 'पुनर्नवा' हो या 'अनामदास का पोथा'—सर्वत्र उनके स्वच्छन्द चिन्तन का अन्तःसूत्र व्याप्त मिलेगा।

सारा उपन्यास पढ़ जाने पर 'पुनर्नवा' शब्द एक विशिष्ट सन्दर्भ पाकर अभिनव अर्थ से दीप्त हो उठता है। 'अनामदास का पोथा' में औपनिषद-ऋषियों की गूढ़ परन्तु प्रसन्न पारिभाषिक पदावलियों की व्याख्या विश्वसनीय और बोधगम्य हो जाती है। 'विवाह' और 'उद्वाह', 'विवेक' और 'विराग', 'प्राणोपासना' और 'उद्गीथोपासना' आदि की व्याख्याएँ ऐसी ही हैं। उनका यह स्वच्छन्द चिन्तन अपना पैर चाहे जिस पौरस्त्य या पाश्चात्य वैचारिक ईंटों पर रखकर चलता हो, भारतीय समष्टि चिन्तन के अन्तस् में निहित संकेतों की दिशा उससे नहीं छूटती—इसीलिए वह अपने परिवेश की ऊँचाई भी बताती है और अपनी संस्कृति में आस्था भी पैदा करती है।

जहाँ तक विद्यानिवास मिश्र का सम्बन्ध है—वे संस्कृत व्याकरण, दर्शन, साहित्य, आगमादि के तो परम्परागत ज्ञाता हैं ही, लोकसाहित्य के भी मर्मज्ञ हैं और जानकार हैं। वे 'लोक' से 'शिष्ट', 'पुरातन से अद्यतन', 'पौरस्त्य से पाश्चात्य' तक की भौतिक और बौद्धिक यात्रा कर चुके हैं। ज्ञान-विज्ञान से, विश्व के राजनीतिक और आर्थिक माहौल से भी भिज्ञ हैं। आशय यह है कि उनकी बुद्धि भी व्यवस्थित शास्त्र और साहित्य के मनन से पर्याप्त क्षमता अर्जित कर चुकी है और उनमें उस सामर्थ्य का आविष्कार हो चुका है जिसे हम 'स्वच्छन्द या उन्मुक्त चिन्तन' कहते हैं। उनमें भी अर्जित ज्ञान के संचार की पर्याप्त क्षमता है। द्विवेदीजी की भाँति मिश्रजी ने भी व्यक्तित्वव्यंजक तथा विचारात्मक—उभयविध निबन्ध लिखे हैं। उनका बँधा हुआ चिन्तन भी शास्त्रीय क्षेत्र में व्याप्त है और स्वच्छन्द चिन्तन भी साहित्यिक निबन्धों में। सबसे पहली बात यह है कि मिश्रजी भारतीय चिन्तन को भाषाभेद से खण्डित नहीं मानते, अतः भारतीय भाषाओं में निहित ज्ञान-धारा को मनन-चिन्तन के माध्यम से उसकी अखण्डता और अविरुद्धता में पकड़ना चाहते हैं और पकड़ते हैं। मतलब यह है कि ये दोनों हाथ से बाण चलाते हैं—'बद्ध' और 'मुक्त'। मतलब, निबन्धकारों के बीच ये सव्यसाची हैं। वे मानते हैं कि वैचारिकता के अतिरिक्त भावात्मक तादात्मय उनके वैयक्तिक निबन्धों में ही नहीं है, वैचारिक निबन्धों में भी है। भावात्मक तादात्म्य के बिना कुछ भी लिखना उन्हें भूसा ओसाने जैसा लगता है। मिश्रजी भी 'भारतीयता' और 'भारतीय परम्परा' के प्रति सर्वात्मना प्रतिबद्ध निबन्धकार हैं। वे मानते हैं 'पर के भी जो परे' हो, श्रेष्ठ से भी जो श्रेष्ठतर हो, जो कभी न भूत हो न भविष्यत्, जो सतत वर्तमान हो, जो कभी सिद्ध न हो, निरन्तर साध्य हो, वही 'परम्परा' है। उनकी 'दृष्टि' में इसीलिए 'परम्परा' साधना का पर्याय है। आचार का अनुशासन वह स्वीकार इसलिए करती है कि एकाग्र होकर, सत्यनिष्ठ होकर विचार के प्रवाह को साधे रहे, विचार को कभी जड़ न होने दे—सीधी रेखाओं में नहीं, वर्तुल गोलाइयों में उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी होती रहे—आदि-आदि। उनके इस वक्तव्य से उनके चिन्तक की गतिमयता और ऊर्ध्वमुखीनता स्पष्ट है। उनकी यदि इन निबन्धों के माध्यम से कोई प्रतिबद्धता है तो यही कि हिन्दुस्तान का समूचा चिन्तन केवल हिन्दुस्तान के

लिए नहीं, केवल हिन्दू के लिए नहीं, सारी दुनिया और सारे मजहबवालों के लिए है। प्रत्येक निर्जीव लगती हुई 'लोक' और 'शिष्ट' परम्परा की ओर उनकी पैनी दृष्टि जाती है और निबन्धों के माध्यम से उसका मर्म रमणीय पद्धति से उद्घाटित करके रख देती है। युद्ध सम्बन्धी समस्त विश्व के चिन्तन को जब वे मथते हैं और उस सन्दर्भ में सर्जनात्मक कृतियों का परीक्षण करते हैं तो उन्हें आज भी महाभारत के निष्कर्षात्मक श्लोकों में चिरनवीनता और ताजगी दिखायी पड़ती है। 'छितवन की छाँह,' और 'दधि, दूब, अच्छता' से लेकर उनकी ज्ञानात्मक चेतना की स्वच्छन्द तथा रमणीय दौड़ 'तकनीक और आदमी' के साथ-साथ 'भारतीय कला-दृष्टि' तक दौड़ लगाती है। इन स्वछन्द चिन्तकों को अपने 'निबन्धन' में किसी का बन्धन है तो वह केवल उनकी सहृदयता और वैचारिकता का।

स्वातन्त्र्योत्तर व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धकारों पर आचार्य द्विवेदी का प्रभाव कहीं-न-कहीं अवश्य है। मिश्रजी ने अपने ही बारे में एक जगह कहा है—"द्विवेदीजी के निबन्धकार ने इस उन्मुक्त व्यक्तित्व को पाने की आकुलता पैदा की, इसके बाद उनकी शैली का प्रभाव तो अपने आप पड़ जाता है।" मिश्रजी ने माना है कि उन्होंने द्विवेदीजी के उस 'उन्मुक्त व्यक्तित्व' की चोरी की है, जहाँ से 'निबन्ध' की अन्तरात्मा का स्वच्छन्द चिन्तनात्मक प्रवाह फूटता है। 'उन्मुक्ता' भी कहीं छिपती है—

'मोतें दुरैहौ कहा सजनी निहुरे-निहुरे कहूँ ऊँट की चोरी।'

इस धारा के तीसरे शक्त निबन्धकार हैं कुबेरनाथ राय। अब तक उनके पाँच संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें भी ऊँट की चोरी साफ दिखती है। द्विवेदीजी की उच्छ्वसित महाप्राणता की झलक यहाँ भी यत्र-तत्र मिल ही जाती है। वैसे इनके निबन्ध अत्यधिक सन्दर्भ-गर्भ होते जा रहे हैं। पौरस्त्य-पाश्चात्य, पौराणिक-दार्शनिक-वैज्ञानिक नामवाली शब्दावली का प्राचुर्य होता जा रहा है। अब तो यह सन्दर्भ-गर्भता का अतिरेक राय साहब की एक प्रत्यभिज्ञापक रेखा बन गयी है। यह प्राचुर्य बहुश्रुतता के बावजूद उक्त निबन्धकारों में कम मिलता है। 'निषाद बाँसुरी' को लें या 'मधुमाधव' को, बात साफ हो जायगी। किसी भी संग्रह को लें। उन्होंने आचार्य द्विवेदी तथा मिश्रजी की ही परम्परा में यह स्वीकार किया है कि उनके निबन्धों के पीछे उनका 'हिन्दू' है और ऐसा होकर भी न स्वीकार करना वे कमीना-पन मानते हैं। वे मानते हैं—"आज हम सब मानवीय चरित्र के अमानवीयकरण की प्रक्रिया में पुनर्जन्म लेते हुए ज्ञात होते हैं। ऐसी अवस्था में साहित्य के भीतर कहीं कोई 'गन्धमादन' खोजना, जिसके क्रोड़ में तमसाच्छन्नरात्रि को विदीर्ण करता हुआ चार औषधियों का प्रकाश दहक रहा हो—मेरा आदर्श है, मेरी चेष्टा का लक्ष्य बिन्दु है और इस बात के साक्षी हैं ये निबन्ध।"

'मनुष्य की मनुष्यता के प्रति मेरी इस प्रतिबद्धता को कोई गाली दे तो दे, परन्तु मैं मनुष्य को छोड़कर अन्य किसी के प्रति साहित्य को प्रतिबद्ध नहीं मानता। शेष अन्य प्रकार की प्रतिबद्धताएँ अधूरी हैं।' राय साहब जीवन का अन्त 'मोक्ष' या

ईश्वर को मानते हैं।

शुक्लजी ने अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर उदित जिस मानवता विरोधी व्यावसायिक वणिग्वृत्ति का विरोध किया था उसी मानवता का स्वर इन निबन्धकारों में भी भारतीय सांस्कृतिक पीठिका पर उत्तरोत्तर उदग्र होता गया है। किसी ने ठीक कहा है कि समाज-नीति, अर्थनीति तथा राजनीति की अपेक्षा धर्म, अध्यात्म और संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय मनीषा ने अपनी शब्दावली आविष्कृत कर रखी है—अत: जब वह अपने चिन्तन का क्षेत्र साहित्य और संस्कृति चुनता है तो काफी ऊँचाई पर पहुँच जाता है और जब शेष चुनता है—और निबन्धकारों में से कम ने चुना है—तब विदेशी शब्दावली के सहारे या तो वह अस्वीय चिन्तन की ओर मुड़ जाता है अथवा राजनीति और अर्थनीति पर बात करता हुआ फिर अपने ही क्षेत्र में मुड़ जाता है। खासकर विचारात्मक निबन्ध प्रस्तुत करनेवाले जैनेन्द्र में यह देखा जा सकता है।

इस क्षेत्र के कुछ उदीयमान और अल्पचर्चित निबन्धकार भी हैं—पर हैं शवत। डॉ. शिवप्रसादसिंह, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, डॉ. प्रभाकर माचवे, डॉ. नामवर-सिंह, सियारामशरण गुप्त आदि अल्पचर्चितों में हैं तो डॉ. विवेकीराय उदीयमानों में। डॉ. शिवप्रसादसिंह के तीन संग्रह सामने हैं—'कस्तूरी मृग,' 'शिखरों का सेतु' तथा 'चतुर्दिक्'। उनकी दृष्टि से इन व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धों में पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को तोड़कर ऊर्ध्वगामी यात्रा करनेवाले बीजांकुर हैं। उनके निबन्धों में संघर्ष है अपने भीतर से भी और बाहरी विघटनकारी शक्तियाँ से भी। ऐसे संघर्षकारी मन के भीतर निहित 'आस्था' की गन्ध यहाँ व्याप्त मिलेगी। डॉ. माचवे ने उनके ललित निबन्धों में "विद्वत्ता, फक्कड़पन, यायावरीवृत्ति, लोककथाप्रेम, सूक्ष्म विचारशक्ति और गद्यकाव्य की शैली देखी है। हजारीप्रसाद द्विवेदी प्राचीन और नवीन में नवीन का रास्ता नहीं चुन पाते, शिवप्रसाद ने अपनी विचारधारा साफ-साफ रखी है। शिवप्रसाद मार्क्सवादी आर्थिक मजबूरियों से परिचित हैं, अस्तित्ववाद की गहन निराशा भरी 'नो एग्जिट' वाली विवशता से भी। वे सीमाओं को जानकर उनके उस पार देखना चाहते हैं, शब्दों की माला पिरोने में वे अटक नहीं गये हैं, वे सचेतन रूप से अचेतन में अवगाहन करते हैं—यही उनकी आधु-निकता है जो उनके निबन्धों में व्यक्त है।" कुछ लोगों का खयाल है कि इनकी रचनाएँ दुर्बोध और दार्शनिक हैं। स्वयं डॉ. सिंह अपनी निबन्ध-चिन्तन की रचनाओं का प्रकाशन 1958 से मानते हैं। उद्देश्य बताते हैं—समस्याभेद, हिन्दी नव लेखन की समस्याओं पर सहचिन्तन। वैसे बाद में यह सह-चिन्तन बन्द हो गया। शैली के नाम पर उनके निबन्धों में कहीं आन्तरिक एकालाप, कहीं सुषुप्त चेतना-प्रवाह, कहीं स्मृतिपुनरावर्तन, कहीं सांस्कृतिक सन्दर्भगूढ़ता, और कहीं ऐतिहासिक अन्त-र्वेद्यता, कहीं नाटकीय पद्धति का अनुसरण है तो कहीं मुक्त रंगमंचीय विधान! अन्तरंग पक्ष के स्तर पर व्यक्त आध्यात्मिकता का अर्थ है—आन्तरिक तन्मयता और वर्ण्यवस्तु में लेखक की ऐकान्तिक एकाग्रता।

डॉ. माचवे का संग्रह है—'खरगोश के सींग'। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—'दर्शनशास्त्र उनको बाँधता नहीं, मुक्त दृष्टि देता है। वे संसार की हलचलों को देखते हैं और अपने अध्ययन-मनन के द्वारा यह निश्चय करते हैं कि इस समूचे कोलाहल के भीतर वह स्वर कौन-सा है जो भविष्य में मार्गदर्शक बनने की क्षमता रखता है। सफल कहाँ तक होगा—यह भविष्य निर्णय करेगा।'

उदीयमान निबन्धकारों में डॉ. विवेकीराय का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इनके निबन्धों में उक्त निबन्धकारों की तरह दुर्बोध वैचारिकता और वर्तमान सांस्कृतिक संकटों तथा समस्याओं पर अपनी गहरी प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की गयी है, अपितु इनमें लोकतत्वों की गन्ध ही मुखर है—भटक रही है। 'फिर बैतलवा डाल पर' निबन्ध-संग्रह की रचनाओं में समूचा वातावरण आंचलिक वैशिष्ट्य से युक्त है – ग्राम जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिपात है। इसमें लेखक शवाधिष्ठित वेताल की तरह युग के मौन को तोड़ने के लिए सचेष्ट और संकल्पवान् है।

स्वातन्त्र्योत्तर विचार-प्रधान निबन्ध

इस धारा के बहुचर्चित निबन्धकार हैं—श्री जैनेन्द्र। उपेन्द्रनाथ अश्क की भाँति बहुत-से लोग उन्हें कनफ्यूज़्ड चिन्तक कहते हैं। ऐसा कहनेवाले उनसे अधिक निर्भ्रान्त चिन्तक निश्चय ही हो सकते हैं। हो सकता है जैनेन्द्रजी ने भी अपने लेखन को कभी एक्स्ट्रेवेगेंजा (उद्भ्रान्तप्रबन्ध) कहा हो। जो भी हो, उन्होंने काव्य की विभिन्न विधाओं में अपने चिन्तक को ही अभिव्यक्ति दी है। हैं वे चिन्तक ही, भ्रान्त हों या निर्भ्रान्त। यह उनसे भी बड़ा चिन्तक जाने। इतना स्पष्ट है कि उनके अनेक निबन्ध-संग्रह हिन्दी जगत् के समक्ष आ चुके हैं। वे गाँधीवादी हैं, सर्वोदयी हैं, जैन और इन सबमें आस्था रखते हुए भी वे 'जैनेन्द्र' हैं—अर्थात् व्यक्तिवादी चिन्तक हैं। उनके चिन्तन की भट्टी में क्या-क्या नहीं पड़ा—शासन, राजनीति, विज्ञान, धर्म, काम, प्रणय, साहित्य, दर्शन, अर्थनीति आदि-आदि। पर चाहे व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार हो या विचारप्रधान, आज का संकट सबके सामने है। जैनेन्द्रजी कहते हैं—'आज का संकट, जिसमें मानवजाति आ पड़ी है, बहुत कुछ उसी दर्शन और विज्ञान के विच्छेद और विरोध में से बना है। पदार्थ विज्ञान और समाज विज्ञान परस्पर तभी पूरक हो सकेंगे, जब दोनों में एक श्रद्धा और विश्वास प्रवाहित होगा। आज का विज्ञान, यन्त्र-व्यापार को सम्पन्न कर देगा और मानव-व्यवहार को विपन्न करता जायेगा। अवश्य कुछ है—जो अभेद्य और अखण्ड है। उसी अटल नियम पर चेतन-अचेतन संसार थमा चल रहा है। इस धर्म में द्वैत नहीं है। आइन्सटाइन ने उसी अद्वितीय नियम को मस्तिष्क में लेने और गणित में देने की कोशिश की, जब सापेक्षवाद प्रस्तुत किया। आवश्यकता है कि उस व्याप्त ध्रुव को जगज्जीवन पर समग्रभाव में फलित और प्रतिफलित किया जाय।' जैनेन्द्रजी की चिन्तन-धारा की दिशा इस वक्तव्य से स्पष्ट है। जैनेन्द्रजी प्रबन्ध चिन्तक की

अपेक्षा मुक्तक चिन्तक अधिक हैं ।

विचारात्मक निबन्धकारों में सर्वश्री अज्ञेय, महादेवी वर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि भी परिगणनीय हैं । अज्ञेय गम्भीर चिन्तक हैं और निरन्तर अपने विवेक का तर्क-संगत परिष्कार करते रहते हैं । उनके चिन्तन की पीठिका पर्याप्त व्यापक और गम्भीर है । उनमें भावुकता, कल्पना, विचार, व्यंग्य, हास्य सबकुछ है । महादेवी के निबन्ध साहित्यिक, सामाजिक (विशेषकर नारी) तथा सांस्कृतिक हैं । शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रभाववादी आलोचनात्मक निबन्ध लेखक हैं । इन्होंने विचारात्मक निबन्ध भी लिखे हैं ।

स्वातन्त्र्योत्तर निबन्ध, आलोचनात्मक सर्वाधिक लिखे गये हैं । हिन्दी साहित्य का कोई भी निबन्धकार स्वातन्त्र्योत्तर युग का ऐसा नहीं है जिसने साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमानों तथा साहित्य के सम्बन्ध में सीमित-व्यापक परिवेश में उठे हुए प्रश्नों-समस्याओं पर अपनी विवेचना प्रस्तुत न की हो । ये प्रश्न साहित्य की रचना, अभिव्यंजना तथा ग्रहण-प्रक्रिया के सन्दर्भ में उठे हुए हैं ।

स्वातन्त्र्योत्तर समुद्भूत परिस्थितियों ने चिन्तकों को हास्य-व्यंग्य के इतने अवसर प्रदान किये हैं कि एतद्गर्भ निबन्धकारों की भी अपनी एक श्रेणी बन गयी है --गोपालप्रसाद व्यास, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, कुट्टिचातन, मोहनलाल गुप्त, बेढब बनारसी, रामावतार त्यागी आदि ।

इस प्रकार उक्त विवेचन के आधार पर स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी निबन्ध साहित्य की प्रवृत्तियाँ—जो उसको प्राक्स्वातन्त्र्य निबन्ध साहित्य से विशिष्टता प्रदान करती हैं, निम्नलिखित हैं—

1. उच्चस्तरीय व्यक्तिव्यंजक निबन्धों की प्रचुरता । ये सभी व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से किसी-न-किसी प्रकार जुड़े हुए हैं । इनके चिन्तन की भूमिका चाहे जितनी देशकाल विभेदिनी हो पर उनमें भारतीयता और आस्था का ही स्वर दीप्त है । ये निबन्ध पर्याप्त वैचारिक वजन रखते हैं । इनमें 'भारतीयता', 'परम्परा' तथा 'हिन्दुत्व' समर्थित 'मानवता' के प्रति प्रतिबद्धता है ।

2. विषयप्रधान या विचारप्रधान निबन्धकारों में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय धरातल की सामाजिक, राजनैतिक, अर्थतन्त्रीय, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में ज्ञान-विज्ञान-दर्शन के चिन्तन से अर्जित ज्ञानालोक में मानस-मन्थन उपलब्ध होता है । प्राक्स्वातन्त्र्य मन्थन की अपेक्षा इसमें वैविध्य, व्यापकता और गाम्भीर्य है । मनुष्य एकता का अनुभव करे—इसमें बाधक तत्त्वों पर लोगों का चिन्तन अधिक केन्द्रित है ।

3. आलोचनात्मक निबन्धों में समानान्तर सर्जनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में उठी हुई नव-नव समस्याओं, प्रश्नों, चिन्तन प्रसूत पारिभाषिक एवं रूढ़ बनते मुहावरों, कलापक्षीय उपकरणों, प्रयोग के विविध पक्षों, साहित्य के मानदण्डों आदि पर पर्याप्त मन्थन चल रहा है ।

4. स्वातन्त्र्योत्तर सन्दर्भ में व्यंग्य-विसंगतियों की अनगिनत स्थितियाँ उत्पन्न

हो गयी हैं — अतः इनका विशिष्ट समावेश भी इस काल की एक विशेषता है।

5. भाषा और शैली में भी सर्जनात्मक विधाओं की विशिष्ट प्रयुक्तियों का निबन्धकारों द्वारा ग्रहण और उनका प्रयोग, जैसा कि शिवप्रसादसिंह ने अपने वैयक्तिक निबन्धों में किया है।

6. एक अन्य प्रवृत्ति लक्षणीय है और वह है सांकर्य की। सर्जनात्मक साहित्य में व्यवस्थापकों द्वारा खींची हुई भेदक रेखाओं का अतिक्रमण, एक स्वतन्त्र विधा की शैलीगत विशेषता का अन्यत्र संचार। निबन्धकार अपने निबन्धात्मक प्रकाशन में संस्मरण, आलोचना, संवाद, एकालाप, भुक्त आसंग, चेतना-प्रवाह, स्मृति-पुनरावर्तन, सांस्कृतिक सन्दर्भगूढ़ता, नाटकीय पद्धति, मुक्तरंगमंचीय विधान आदि-आदि, का प्रयोग करने लगा है। इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर निबन्धकारों का मन्थन कई बातों में अपने को रेखांकित करता है और अपनी विशिष्ट पहचान के लिए अनेक प्रत्यभिज्ञापक रेखाएँ खींचता है।

आधुनिक समीक्षा के अन्य प्रमुख आधार-स्तम्भ और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

साहित्य में क्रमागत भारतीय चिन्तन, जो सामान्यतः आत्मवाद पर प्रतिष्ठित था, हिन्दीजगत् में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा एक भिन्न भूमि पर आरूढ़ किया गया। यह भूमि थी—बुद्धिवादी। उनका खयाल था कि आत्मवाद या आत्मतत्त्व दार्शनिकों और रहस्यदर्शियों के क्षेत्र की वस्तु है, उसे साहित्य के क्षेत्र में लाया ही नहीं जा सकता। उनकी दृष्टि में साहित्य-चेतना का सम्बन्ध मनोमय कोष तक ही है। मन की मुक्त दशा ही उसका उत्स है—वही 'रस' है—साहित्य के माध्यम से पाठक इसी दशा 'रसदशा' तक पहुँचता है। जो वहाँ से उत्पन्न होकर यहाँ तक पहुँचावे नहीं, वह साहित्य नहीं। रस या आनन्द का सौन्दर्य से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। अतः उन्हें सौन्दर्य पर भी विचार करना पड़ा और कहना पड़ा कि अन्तःसत्ता की तदाकार (सुन्दर वस्तु के आकार की) परिणति ही सौन्दर्यानुभूति है और सौन्दर्य सुन्दर वस्तु ही है। सुन्दर और कुरूप या असुन्दर—बस, काव्य में ये ही दो पक्ष हैं। धर्मज्ञ अपनी दृष्टि से जिसे मंगल कहता है, दार्शनिक सत्य कहता है, कवि उसे ही सुन्दर कहता है। उसकी दृष्टि सौन्दर्य की ओर ही जाती है। इस चिन्तनक्रम में शुक्लजी की रसात्मकता जो मनुष्यता की उच्चभूमि है—सात्विक मनोदशा या नैतिक मनोदशा का ही पर्याय है। यही कारण है कि उन्हें मानवीय या 'लोक-मंगल' की भावना से प्रेरित कार्यकलाप में ही सौन्दर्य दिखेगा। राम के व्यापार ही सुन्दर प्रतीत होंगे, रावण के व्यापार नहीं। शुक्लजी ने स्पष्ट कहा कि राम के काव्यात्मक निरूपण में ही पाठकों या श्रोताओं को रस मिलता है, रावण के निरूपण में नहीं। शुक्लजी की दृष्टि में रावण की सक्रियता का योगदान काव्य की भूमि पर भी सौन्दर्यबोध में नहीं है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इसी भूमि पर शुक्लजी से अपना साहित्यिक प्रस्थान भिन्न कर लेते हैं। वाजपेयीजी के अनुसार काव्यानुभूति के अखण्ड धरातल पर यह नैतिक-अनैतिक का विभाजन असंगत है। साथ ही वाजपेयीजी 'बुद्धिवाद' को अधूरी दृष्टि और 'वैदिक दृष्टि' को समग्र दृष्टि मानते हैं, अतः आत्मवाद के प्रति उनकी गहरी आस्था व्यक्त होती है। स्वच्छन्दतावाद या छायावाद काव्यचेतना की सीमा मनोमय कोष तक ही नहीं मानता—वह उसमें आत्मानुभूति तक पहुँचने की सम्भावना का द्वार बन्द नहीं करता। जहाँ शुक्लजी

अनात्मवाद या बुद्धिवादी भूमि पर रस का विचार करते हैं, इसीलिए रस की उत्तम, मध्यम आदि अनेक कोटियाँ निर्धारित करते हैं—वहीं आत्मवादी दृष्टि रखने के कारण वाजपेयीजी रस को सर्वथा आनन्दमय, अखण्ड और साध्य कहते हैं। निष्कर्ष यह कि काव्य की मूलभूत स्रोतस्विनी रसदशा के विषय में दोनों का दृष्टिभेद स्पष्ट है।

डॉ. नगेन्द्र भी रसवादी आचार्य हैं। रस को काव्य का उत्स मानते हैं लेकिन जिस प्रकार काव्यानुभूति या सर्जनात्मक अनुभूति की व्याख्या डॉ. नगेन्द्र करते हैं, वह एक भिन्न दृष्टि ही है। उन्होंने मनोविज्ञान के आचार्यों का सहारा लिया है और काव्य में आत्माभिव्यक्ति का आशय स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि में आत्मा का अर्थ व्यक्तित्व है, भारतीय दार्शनिक-सम्मत चिदानन्दमय अखण्ड तत्व नहीं। यद्यपि आरम्भ में वाजपेयीजी की भाँति नगेन्द्रजी भी स्वच्छन्दतावादी आलोचक के रूप में ही आते हैं, फिर भी इनकी दृष्टि वैदिक नहीं, अवैदिक है। आत्मा और व्यक्तित्व को अभिन्नार्थक मानते हुए कहा है कि व्यक्तित्व उन राग-द्वेषों का, जिनमें से अधिकांश कामचेतना के प्रोद्भास हैं, संश्लिष्ट समूह है। इस व्यक्तित्व के भी उसी अंश की साहित्य में अभिव्यंजना होती है जो अभाव या अतृप्ति से ग्रस्त होता है। निष्कर्ष यह कि आत्मा या व्यक्तित्व के निर्माण में वे कामवृत्ति या उसकी अतृप्ति का योग स्वीकार करते हैं और यह भी तभी सम्भव है जब सौन्दर्य का उद्दीपन हो, आनन्द और अभाव की पीड़ा, दोनों का संयोग हो। अर्थात् व्यक्तित्व या आत्मा की जो अनुभूति अनायास फूट पड़ती है, उसमें आनन्दमयता के साथ अभाव की पीड़ा भी होती है। यह काव्यानुभूति की महत्ता है कि आनन्द और पीड़ा के विरोध में अन्विति ला देती है। डॉ. साहब के अनुसार काव्यानुभूति में आनन्द के साथ पीड़ा और पूर्णता के साथ अभाव का सहावस्थान होता है। सर्जना के अतिरिक्त ग्रहण की दृष्टि से विचार करते हुए तो 'रससिद्धान्त' में उन्होंने अपने साहित्यिक चिन्तन की प्रस्थान भूमि भिन्न करते हुए स्पष्ट स्वीकार किया है कि काव्यानन्द आत्मानन्द नहीं है। यदि हम आनन्द के विभिन्न रूपों और स्तरों में भेद करते हैं, तब फिर काव्यानन्द को अत्यन्त उदात्त और अवदात अनुभव मानने पर भी आत्मानन्द रूप नहीं माना जा सकता। इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता एवं तीव्रता (ऐन्द्रियता एवं कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती और इसीलिए वह पहले से अधिक शुद्ध, परिष्कृत तथा दूसरी से अधिक सरस होती है। निष्कर्ष यह कि काव्यानुभूति अपने सर्जनात्मक और ग्रहणात्मक दोनों स्तरों पर आनन्दात्मक होती है पर उद्भव में अभाव की पीड़ा भी रहती है, जबकि डॉ. नगेन्द्र ग्रहण में उसे अनिवार्य रूप से आनन्दमय ही मानते हैं और ऐसा होने में रिचार्ड्स की मान्यताओं का सहारा लेते हुए उसे systematization of impulses के रूप में निरूपित करते हैं। भावन या contemplation का यहाँ उपयोग होता है, फलतः मनोवेगों में सन्तुलन आता है। काव्यानुभूति का यही स्वरूप है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी शुक्लजी के अनन्तर किन्तु आचार्य वाजपेयी तथा डॉ. नगेन्द्र के साथ हिन्दी साहित्य में अपना एक विशिष्ट साहित्यिक प्रस्थान निर्मित कर रहे थे। द्विवेदीजी के चिन्तन के मूल में संस्कृत-पालि-प्राकृत तथा अपभ्रंश और अवहट्ठ का विशाल वाङ्मय पृष्ठभूमि का कार्य कर रहा था। इस विशाल वाङ्मयाम्बुधि का अगस्त्य की भाँति पान किया था, उसमें निहित भारतीय चिन्तन को आत्मसात् किया था। इसीलिए उनके चिन्तन में जहाँ एक ओर सांस्कृतिक सुगन्ध है, वहीं दूसरी ओर ऐतिहासिक चेतना भी। इन दोनों पाथेयों के साथ अपनी चिन्तनयात्रा को विश्वसनीय बनाने के लिए समाजशास्त्रीय पद्धति भी अपनाते थे। विभिन्न युगों की सामाजिक चेतना के साथ सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना का तालमेल बिठाते हुए अपनी सारस्वत यात्रा द्विवेदीजी ने सम्पन्न की है। शोध के क्षेत्र की उनकी स्थापनाओं में ये सभी तत्व मिलेंगे। चाहे 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' लें या 'आदिकाल', 'सूरसाहित्य' लें, 'मध्यकालीन धर्मसाधना' अथवा 'मध्यकालीन युगबोध' आदि—सर्वत्र मन्थन-लब्ध स्थापनाओं के रत्नों में सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय दीप्तियाँ झरती हुई लक्षित होंगी।

द्विवेदीजी शोधी ही नहीं, आलोचक और सर्जक भी हैं। आलोचना सैद्धान्तिक भी है और व्यावहारिक भी। ये तीनों रूप एक दूसरे को हस्तावलम्बन देते हैं। डॉ. नगेन्द्र अन्ततः शोध और आलोचना को पृथक् नहीं मानते। खासकर साहित्य-शोध और आलोचना के उपकरण और चरम परिणति को वे एक ही कर देते हैं, आरम्भ में शोध और आलोचना भले पृथक् लगे, परिणति में वे पृथक् नहीं मानते। उनके अनुसार तथ्यान्वेषण शोध का लक्ष्य है और तत्त्वान्वेषण साहित्यालोचन का, पर अन्ततः काव्यक्षेत्र का अनुसन्धान तत्वबोध (सौन्दर्यबोध) में पर्यवसित नहीं होता तो वह काव्यक्षेत्र का अनुसन्धान नहीं है। जैसे भारतीय साहित्याचार्यों ने काव्य और काव्यशास्त्र का प्रयोजन एक ही माना है, उसी वृत्ति को आगे बढ़ाते हुए डॉ. नगेन्द्र ने काव्यशोध को भी काव्य की बृहत्तम परिधि के भीतर ही रखना चाहा है। उनकी दृष्टि में जो उपकरण साहित्यालोचन के लिए अन्तरंग हैं, वे ही शोध के लिए भी। जैसे तथ्यसंग्रह, तदाधृत विचार और विचारों की प्रतीत्यात्मक परिणति। तथ्य से विचार की ओर बढ़ने में **भावन** और विचार से प्रतीति की ओर बढ़ने में **दर्शन** आवश्यक है। डॉ. नगेन्द्र आलोचन को सृजनात्मक भी मानते हैं, अतः शोध, आलोचन, सर्जन —तीनों काव्य के क्षेत्र में सर्वथा एक न भी हों, तो भी एक लक्ष्य से प्रस्थित होने के कारण परस्परावलम्बी अवश्य हैं। थोड़ी देर के लिए डॉ. नगेन्द्र के निर्दिष्ट रास्ते से बढ़ा जाय तो द्विवेदीजी के तीनों रूपों को परस्परावलम्बी माना जा सकता है, अतः एक अपेक्षणीय है और दूसरा उपेक्षणीय या कमजोर, यह ठीक नहीं। यह ठीक है कि उनका सर्जक रूप जो निबन्ध और उपन्यासों में दीप्त और उद्ग्रीव है, नितान्त मनोहर तथा हिन्दी जगत् में पथप्रदर्शक बन गया है, पर इसका अर्थ यह कैसे कि 'लालित्य शास्त्र' या 'हिन्दी साहित्य की

भूमिका' कमजोर है या कि उस क्षेत्र में उन्हें काम नहीं करना चाहिए। एक पर हाथ साधना दूसरे को समृद्ध करना है। यों स्पष्ट है कि यह सबकुछ मनुष्य को समझने के लिए ही उनका सारा प्रयास है। उनकी धारणा है कि मनुष्य सृष्टि का सर्वोच्च प्राणी है और काव्य उसकी सर्वोच्च सृष्टि। इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि जहाँ मनुष्य की सर्वोच्च सृष्टि काव्य है वहीं काव्य का लक्ष्य भी मनुष्य है। उनकी दृष्टि में वह काव्य काव्य नहीं है जो मनुष्य में निहित प्रयोजनातीत सम्भावनाओं को उपलब्धि का रूप देने में साधन न बन सके। वैसे तो काव्य का भी कुछ प्रयोजन है, पर वह भौतिक प्रयोजन—आहार, निद्रा, भय, मैथुन-जैसे पशु-सुलभ प्रयोजनों से ऊपर है। इसी अर्थ में काव्य का प्रयोजन (पशु-सामान्य) प्रयोजनों से अतीत है। निश्चय ही इस स्वर में सोचनेवाले पण्डित को, जो काव्य का लक्ष्य संस्कृति या मानवमात्र के अविरोधी धर्म मानवता के घटक उपकरणों (प्रेम, दया, उपकार, करुणा, सहानुभूति आदि) को मानता है—सांस्कृतिक या मानवतावादी आलोचक कहा जायेगा। वह रवीन्द्र और अरविन्द की स्थापनाओं में आस्थावान् है। चेतना को चरमतत्व मानता है और समस्त सृष्टि को चरमतत्व में निहित अनन्तानन्त सम्भावनाओं का मूर्त रूप मानता है। सृष्टि को चेतना की जययात्रा मानता है। विजय अधःकर्षक शक्तियों पर, जड़ता पर। जड़ता एवं अधःकर्षक शक्तियों पर विजय प्राप्त करती हुई चेतना की महायात्रा मानव-स्तर तक हो चुकी है और क्या पता यह यात्रा मानव-गत अपूर्णता को भी जीतकर शान्त हो। आचार्य द्विवेदी, कवीन्द्र रवीन्द्र की 'यूनीवर्सल मैन' वाली कल्पना में आस्था रखते हैं और भारतीय आगमों में निहित तत्वचिन्तन के आलोक में उसे संगत ठहराते हैं। इन तमाम-तमाम, प्राचीन-आधुनिक, ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को आत्मसात कर उनकी सर्जनात्मक कल्पना काव्यसृष्टि के लिए अग्रसर होती है।

इस प्रकार जिस दृष्टि को ग्रहण कर आचार्य द्विवेदी साहित्यमन्थन या सर्जन के लिए प्रस्थित हुए, स्पष्ट ही वह शुक्लजी और डॉ. नगेन्द्र से इस माने में भिन्न है कि द्विवेदीजी अपने चिद्वादी पक्ष को कहीं छोड़ते नहीं। वे मानते हैं कि ज्ञात-ज्ञेयात्मक भाव सृष्टि है, चेतना का ही प्रकाशन है और चेतना का सर्वोच्च विकास मानव या मनुष्य सृष्टि के रूप में हुआ है। अतः मनुष्य की ज्ञान-विज्ञान के रूप में जो चेष्टा है, वह सबकी सब उसे समझने में सहायक होती है। इसीलिए द्विवेदीजी का प्रस्थान सर्वग्राही है, शुद्धतावादियों की भाँति त्यागी नहीं है। आदिकाल को समझने में शुक्लजी साम्प्रदायिक साहित्य का त्याग करते हैं, द्विवेदीजी उसका भी उपयोग करते हैं। लेकिन ऐसा करते हुए वे आत्मवाद के अतिवाद से बचते हैं—सन्तुलित रहते हैं, इसीलिए उनमें चिन्तन की वह विकृति नहीं आती, जिसके आने की सम्भावना से लोग आत्मवाद को एक किनारे रख देते हैं। आत्मवाद में आचार्य वाजपेयी की आस्था है, पर भारतीय चेतना जिस भारतीय (विविध भाषाबद्ध) साहित्य के साक्ष्य पर ठीक-ठीक पकड़ी जा सकती है और उसकी ऐतिहासिक परिणति का साक्षात्कार किया जा सकता है—वह सबकुछ वाजपेयीजी के पास

नहीं था। शुक्लजी युगीन परिस्थितियों का साहित्य-प्रतिबिम्बत चित्तवृत्ति के साथ कार्य-कारण भाव निरूपित करते हैं, द्विवेदीजी इतना ही पर्याप्त नहीं समझते। वे परिस्थितियों और जनता की चित्तवृत्तियों के बिम्ब-प्रतिबिम्बन के कार्य-कारणभाव निरूपण के साथ-साथ यह भी देखना चाहते हैं कि समाज-प्रवाह के माध्यम से विकसित सांस्कृतिक चेतना अपने ऐतिहासिक क्रम में कैसी है ? इसीलिए जहाँ शुक्लजी 'भक्तिभाव' को तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र कहकर रुक जाते हैं—वहाँ सांस्कृतिक चेतना के ऐतिहासिक क्रमविकास को दृष्टिगत कर द्विवेदीजी मानते हैं कि मध्यकालीन भक्ति का स्वरूप जो अपने क्रम में विकसित हो रहा था, यदि मुसलमान न भी आये होते तो भी बारह आने वह वैसा ही होता।

पुरातन चिद्वाद की यह अति थी कि वह व्यक्ति मंगल की, वह भी परलोक में मिलने की बात करता था, फलतः समाज और राष्ट्र का बहिरंग उपेक्षित हो रहा था। आधुनिक चिन्तकों और साहित्यिकों ने इसे लक्षित किया और प्रयास किया कि विकास सन्तुलित हो। अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही पक्ष समुन्नत हों। आन्तरिक विकास की परिणति बाह्य जीवन से विच्छिन्न न हो। बहिरन्तर, दोनों ही विकसित रूप में पूर्णता की ओर विकसित हों। मंगल परलोक तक ही सीमित न रहे, इहलोक में भी वह उतरे। वर्तमान की कुरूपता और अनुध्यात शोभनता में जो व्यवधान सर्जक अनुभव करता है, उसको भरने की व्याकुलता प्राचीन साहित्यकार में भी थी, पर इस व्यवधान को इसी धरती पर दूर करने का संकल्प आधुनिक युग की एक खास विशेषता है। मार्क्सवाद भी यह संकल्प लेकर चलता है और आत्मवाद भी, आचार्य द्विवेदी आत्मवाद का पक्ष लेकर आधुनिक चेतना को मूर्त होते देखना चाहते हैं। वे साहित्य में उस 'यथार्थ' के चित्रण के पक्षधर नहीं हैं जो पाशव रूप को उरेहता है, वरन् उस रूप को महत्त्व देते हैं, जिससे मनुष्यता उद्दीप्त होती हो। साहित्य को इस अर्थ में वे भी साधन मानते हैं कि वर्तमान की कुरूपता हटाकर वह कुरूप समाज को बदल डाले, या समाज की कुरूपता को उच्छिन्न कर डाले, बहिरन्तर के व्यवधान को, वर्तमान और काम्य की खाई को पाट डाले, लेकिन इसके लिए वे जड़वादी दर्शन को मान्यता नहीं देते। इसीलिए वे रामविलासजी प्रभृति मार्क्सवादी चिन्तकों से भी अलग जा पड़ते हैं। दूसरी ओर व्यक्ति मंगल या समाजमंगल की काष्ठापन्न चरितार्थता धरती पर ही देखने की अदम्य आकांक्षा से पुरातन चिद्वादियों से भी पृथक् हो जाते हैं। जो चिद्वाद में आस्था नहीं रखते, बुद्धिवाद या ज्ञान-विज्ञान की ही अधुनातन गैर-आत्मवादी स्थापनाओं से सम्पृक्त हैं, उससे पृथक् तो हैं ही। सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण रखने का ही परिणाम है कि सर्जकों की आलोचना करते समय या किसी विशेष धारा अथवा युग का विश्लेषण करते समय काव्यशास्त्रीय सौन्दर्यस्रोतों की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। आचार्य शुक्ल, डॉ. नगेन्द्र और आचार्य वाजपेयी की रुझान काव्यशास्त्रीय सौन्दर्यस्रोतों की ओर भी है। वैसे 'सौन्दर्य' का पक्षधर कौन नहीं होगा ? लेकिन दृष्टिभेद होने के कारण द्विवेदीजी

सौन्दर्य को **सामंजस्य** के रूप में रेखांकित करना चाहते हैं। वे अपनी बात को समझाने के लिए मानते हैं कि शक्तित्रिक् (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) के सहज योग से विशुद्ध चैतन्य की गोचर जगत् के रूप में अभिव्यक्ति हो रही है, संसार का समस्त आकर्षण, उल्लास, लालित्य और सौन्दर्य इसी चित् की स्वातन्त्र्यात्मा इच्छाशक्ति के अनुकूल स्पन्दन का नाम है। जहाँ विपरीत है, वहाँ इस मूल इच्छात्मक छन्दो-धारा का प्रातिकूल्य है। द्विवेदीजी मानते हैं कि पश्चिम के पण्डितों ने व्यक्तिचित्त की इच्छा को सौन्दर्य कहा है, जो सौन्दर्य को व्यक्तिसापेक्ष तत्व की खिड़कियों में खड़ा कर अव्यवस्था और तर्क-वितर्क का कारण बनता है। अतः देश-काल-सापेक्ष और परम्परा-स्वीकृत जनवर्ग विशेष के समष्टिचित्र की इच्छा को, सौन्दर्य मानने के लिए विवश होना पड़ता है। द्विवेदीजी की दृष्टि में, माना कालिदास ने भी व्यक्ति-चित्र की इच्छा को ही सौन्दर्य, परन्तु उनकी व्यक्ति-इच्छा समष्टिव्यापिनी इच्छा का ही प्रतिरूप है, विशिष्ट रूप है। समष्टि-इच्छा विश्वव्यापिनी मंगलेच्छा के अनुकूल होने पर ही व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। व्यक्तिगत इच्छा उसके प्रतिकूल जाकर कुत्सित हो जाती है। समष्टि-इच्छा चेतन धर्म है—जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है, वही सुन्दर है। समष्टिचेतना सर्जनात्मक है, सिसृक्षा है, व्यक्तिगत इच्छा उससे अनुकूल रहकर ही चरितार्थ होती है। जिस इच्छा में अज्ञान है, मोह है, परोत्सादन वृत्ति है, वह पाप इच्छा है। जड़त्व से अभिभूत होती है। **सौन्दर्य** उसमें नहीं रहता। कालिदास की लालित्य योजना के सन्दर्भ में 'सौन्दर्य' की अपनी अवधारणा द्विवेदीजी ने स्पष्ट की है। व्यक्ति-व्यक्ति जितने अंश में विरोधी हैं, वह जड़ता का प्रकाश है और जितने में सामंजस्य—वह चेतना की अभिव्यक्ति है, फलतः समंजस्य का यही सामंजस्य सौन्दर्य है—असामंजस्य असौन्दर्य। समष्टि या समाज का मेरुदण्ड यही सामंजस्य है, इसके अभाव में वह टूटने लगता है, जड़ता हावी हो जाती है, चेतन की अभिव्यक्ति पर। व्यष्टि-व्यष्टि —खण्ड-खण्ड—के भीतर व्याप्त अखण्ड मनुष्यता ही आस्वाद गोचर होकर रस रूप में प्रतीत होती है। द्विवेदीजी इस दृष्टि से साहित्य की सर्जना और मन्थना में प्रवृत्त होते हैं। वे चेतना की जययात्रा के रूप में सबकुछ देखते हैं और मनुष्यता को ही सर्वोच्च सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में देखते हैं।

शब्द-ब्रह्म के सिद्ध भाष्यकार आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

पूर्वजों का अपनी सन्तति पर बड़ा ऋण होता है, अतः पूर्वज उत्तमर्ण हैं और सन्तति अधमर्ण। वह सन्तति कृतघ्न है, जो इस ऋण को नहीं स्वीकारती। केवल स्वीकार करने से ही क्या होता है, उसकी परिणति की व्याप्ति 'प्रदेय' बोध और उसके मूल्यांकन तक जानी ही चाहिए ताकि सन्तति 'प्रदेय' का 'अवदान' की सन्तति को गत्यात्मक रखकर अन्वर्थनामा हो सके, अपने को सार्थक कर सके। कुछ ऐसी ही सात्विक भावना से प्रेरित होकर हम सब ऐसे प्रयत्नों में प्रवृत्त होते हैं—रामबहादुर राय उपाधि-प्राप्ति के ब्याज से इसी भावना को साकार कर रहे हैं। उनका प्रस्तुत प्रयास पुनीत है, फलतः साधुवाद का भाजन है।

डॉ. राय का संकल्प है कि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के आलोचनात्मक अवदान का आकलन किया जाय और उनका वैशिष्ट्य स्पष्ट किया जाय। वे जानते हैं कि पण्डितजी कभी सर्जक भी रहे हैं, पर उनका आलोचक रूप उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और सर्वथा उल्लेख्य है, फलतः सर्जक-पक्ष का सामान्यतः संकेत करते हुए भी उन्होंने अपने प्रयास को उनके आलोचक रूप पर ही केन्द्रित किया है। साहित्य के क्षेत्र में 'आलोचन' की व्याप्ति अब 'पाठ' से लेकर उसके मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति के विश्लेषणात्मक पुनराख्यान तक है। पण्डितजी की आलोचन-यात्रा 'पाठ' से 'पुनराख्यान' तक प्रसृत है। पुनराख्यान जिस सृजनात्मक अनुभूति का होता है 'शैली-वैज्ञानिकों' और 'नये समीक्षकों' का अभिमत है कि उसका अनावरण-प्रकाशन 'शब्द' के ही सहारे होना चाहिए, तभी आलोचन की तटस्थता का सम्यक् और साहित्यिक निर्वाह हो सकता है। इनकी दृष्टि में भाषा काव्य का माध्यम नहीं, वही है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य की जितनी परिभाषाएँ की हैं—सभी 'शब्द' अर्थात् 'शब्दार्थ' गर्भ हैं। आनन्दवर्द्धन ने भी कहा है—

उक्त्यंतरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्।

'चारुता' काव्य का अन्तस्तत्व है—उस अन्तस्तत्व का प्रकाशन अन्वय-व्यतिरेक प्रमाणित जिस 'शब्द' से हो, वही 'शब्द' 'ध्वनि' कहा जाता है—ध्वनिकाव्य या प्रशस्त काव्य कहा जाता है। काव्य में सटीक शब्द का प्रयोग होना चाहिए—उसकी

जगह कोई भी दूसरा शब्द न हो सके। कुन्तक ने ऐसे ही 'शब्द' को 'वक्र' शब्द कहा है और उसे ही काव्य माना है। सामान्यभाषा से काव्यभाषा को चारुत्व प्रकाशनोपयोगी शब्दगत वक्रता या सटीकता ही व्यावृत्त करती है। अतः 'सर्जक' और 'आलोचक'—दोनों को शब्द-साधना करनी पड़ती है। महाकवि की पहचान ही बतायी गयी है कि उसके द्वारा प्रयुक्त 'शब्द' और 'अर्थ' यत्नपूर्वक प्रत्यभिज्ञेय होते हैं—पुनः-पुनः अनुसन्धान या 'भावन' की अपेक्षा करते हैं। शब्दसाधना शब्द-ब्रह्म की साधना है। कवि और भावक दोनों को शब्दब्रह्म का मर्मी साधक होना आवश्यक है। आचार्य मिश्र शब्दब्रह्म के मर्मीसिद्ध हैं। कवि के मूल आशय तक केवल 'शब्द' की डोर पकड़कर किस तरह तह तक उतरा जा सकता है—'घनानन्दभाष्येन्दुशेखरः' इसका ज्वलन्त साक्षी है—दिवंगत चन्द्रशेखरजी के इस प्रयास के उद्गम आचार्य मिश्र ही हैं। मैंने लेखन और अध्यापन उभयत्र देखा है कि जिस तरह वे शब्दों को छेड़ते हुए, सर्जक के मूल आशय तक पहुँचते हैं। अपनी इस पद्धति और प्रयास में वे अद्वितीय और अप्रतिम हैं और यही विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं—जहाँ वे हिन्दी के आचार्यों के प्रति अकेले चट्टान की तरह तनकर खड़े हैं। उनकी इसी विशेषता को लक्षित कर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने उनसे किसी एक ही पद की एक घण्टे तक अभूतपूर्व व्याख्या का समारोह आयोजित किया था। पण्डितजी 'मानस' की शब्दानुधाविनी व्याख्या सम्प्रति सम्पन्न कर रहे हैं। लोग कहते हैं कि अकेले 'शब्द' क्या कर सकता है? जब तक आलोचक सर्जक के व्यक्तित्व घटक 'अनुवंश' और 'परिवेश' को नहीं जानेगा, जब तक मनोविज्ञान की सहायता से सर्जक के मनोजगत की बारीकियों का ज्ञान नहीं होगा, जब तक समाजशास्त्रीय बोध के आलोक में उसके परिवेश का अवगमन नहीं होगा, जब तक नीतिशास्त्रीय ज्ञानालोक में उसके आचरण की सम्यक् अवगति न हो, जब तक उससे जुड़े सांस्कृतिक प्रवाह के घटक दार्शनिक विचारधारा आदि का भावबोध न हो, आदि-आदि। इन तमाम सन्दर्भ-घटक-ज्ञान-वैविध्य से निरपेक्ष होकर केवल 'शब्द' के सहारे आलोचक क्या कर सकता है, भावक कैसे नीचे उतर सकता है? सवाल यह खड़ा होता है कि इन सबके आलोक में 'शब्द' को सक्रिय होना चाहिए अथवा 'शब्द' से ही रगड़ करें और उसी से ज्ञान के विविध स्फुलिंग विकीर्ण हों? भारतीय परम्परा, जो शब्द के सहारे व्याख्यात्मक आलोचना की रही है, शैलीविज्ञान और नयी समीक्षा के तर्कों से समर्थित है—'शब्द' को ही 'सर्वब्रह्म' मानकर उसी की साधना करती है और उसी की आराधना से सभी अपेक्षित ज्ञानवैविध्य फूट पड़ते हैं। आचार्य मिश्र इसी भारतीय परम्परा के शब्द-साधक हैं।

हिन्दीसाहित्य का मध्यकाल शब्दसिद्धों का आत्मप्रकाश है और आचार्यजी उसी काल के जहाज हैं—यों बड़े अखाड़े का सिद्ध, किसी अखाड़े में जा सकता है और अपने प्रातिभ सामर्थ्य का अप्रतिम चमत्कार दिखा सकता है। आचार्यजी तुलसी, घनानन्द, प्रसाद और अज्ञेय की काव्य-पंक्तियों का विश्लेषण केवल 'शब्द' के सहारे एक तरह कर सकते हैं—'प्रसाद' की पंक्तियों की व्याख्या तो कम-से-कम

मैंने सुनी है। जिसने यह चमत्कार और क्षमता देखी नहीं, वह शब्द-सामर्थ्य का अन्दाज नहीं लगा सकता। एक शब्द न जाने कितने ज्ञात-अज्ञात सन्दर्भों का वहन करता है, यह उसका साधक ही जानता है। शब्द से होकर अर्थ और प्रत्यय की ओर जाना स्वाभाविक मार्ग है। सच्चा आलोचक यही रास्ता पकड़ता है। अपने शब्द विषयक अज्ञान को छिपानेवाला आलोचक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के चाकचिक्य फैलाता है और 'शब्द' से सीधे बँधी हुई 'सर्जनात्मक' अनुभूति तक तटस्थ ढंग से तादात्म्यापन्न होकर नहीं पहुँच सकता। ताटस्थ्य और तादात्म्य, दोनों ? सो कैसे ? स्वभाव और सहज के बाहर कुछ नहीं है। आलोचक एक तरफ 'परकाय' नहीं, 'परान्तः' प्रवेश करके **तादात्म्यापन्न** होता है और दूसरी ओर 'शब्द' में ब्रह्म का साक्षात्कार कर **तटस्थ ढंग** से स्वतः उन्मीलित होनेवाली अनवग्राह्य अर्थ---रत्नराशि का अनावरण करता चला जाता है। या यह कहें कि उससे अनावरण होता चला जाता है, आलोचक माध्यम भर रह जाता है। लोग समझते हैं कि महाशक्ति के प्रति समर्पित कवि ही माध्यम होता है, नहीं; पहुँचा हुआ शब्द साधक भी माध्यम बन जाता है, आलोचन के सन्दर्भ में, तभी वह अनायास भीतर से परत-दर-परत आविष्ट-सा लगता हुआ आशय खोलता चला जाता है। पण्डितजी जब कभी महा-प्राण होते हैं, तब इस आविष्ट दशा का साक्षात्कार किया जा सकता है। यह दशा कभी-कभी आती है। तभी दशरूपककार ने कहा—

कस्यचिदेव कदाचिद्दया विषयं सरस्वती विदुषः।
घटयति कमपि तमन्यो ब्रजति जनो येन वैदग्धीम्॥

कहा तो सर्जक के लिए है, पर भावक पर भी इसे संचरित किया जा सकता है। किसी-किसी को और वह भी कभी-कभी सरस्वती कुछ ऐसा सुझा देती है कि वह 'विदग्ध' पदवी प्राप्त कर लेता है—साधक भावक के लिए वाग्रूपा सरस्वती वह कामधेनु है जो स्नेह से द्रवित होकर स्वयं प्रस्तुत हो जाती है। कहा है—

वाग्धेनुर्दुग्धएतं हि रसं यद् वात्नतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हियः॥

पण्डितजी ने अपनी साधना से वाग्धेनु को द्रवित कर लिया है। तभी वह अपना 'रस' उन्हें उँड़ेल देती है। एक बार की घटना है, हम लोग साहित्यरत्न की कक्षा में 'रस' पर पं. प्रद्युम्न मिश्र से कुछ सुन रहे थे—वे भी अध्यापन में कुछ आविष्ट-से हो गये थे। बगल में गली पार एक मकान था। उसमें बैठे सज्जन वह अध्यापन सुन रहे थे। विस्मित होकर अध्यापन कक्ष में आ गये और कहा—"मुझे तो लगा जैसे विश्वनाथप्रसाद मिश्र बोल रहे हैं—वे यहाँ कैसे ? सो, उत्सुकतावश प्रभावित होकर चला आया।" हम लोगों ने यह तो नहीं पूछा कि वे कौन थे, पर निश्चय ही वे उन लोगों में थे जिन्होंने पण्डितजी की आलोचना सुनी थी।

पण्डितजी अपने आलोचन में कभी-कभी आविष्ट भी हो जाते हैं, पर अधिकांश अनाविष्ट। उनकी अनाविष्ट दशा निवातनिष्कम्प दीपशिखा की-सी होती है। यह भी समाधि ही है। घनानन्द की व्याख्या भी सुनी है और घनानन्द की आलोचना

भी सुनी है। आविष्ट भी। अनाविष्ट भी। सहजता और स्वाभाविकता, उभयत्र मिली—गाम्भीर्य उभयत्र निरवधि।

आलोचन 'पाठ' का भी, आलोचन 'पाठ' में निहित 'आशय' का भी। आशय का शब्दानुधावी आलोचन भी होता है, जिसे हम व्याख्या या पुरानी शब्दावली में 'टीका' कह लें, मूर्धास्थित 'तिलक'। इस आलोचन को टेकनिकल बनाने में सैद्धान्तिक प्रतिमानों को प्रयोग किया जाता है–पण्डितजी ने सैद्धान्तिक और तकनीकी समीक्षा भी की है। पहले का उदाहरण घनानन्द भाष्येन्दुशेखर का निर्देशन है और दूसरे का 'बिहारी'। उनके आलोचन का एक चौथा पक्ष भी है, जिसे सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं। आलोचन के इस क्रम में उन्हें ऐतिहासिक संगतियाँ भी ढूँढ़नी पड़ी हैं, टूटी श्रृंखलाएँ जोड़नी पड़ी हैं, व्यामोह भंग करना पड़ा है—'हिन्दी साहित्य का अतीत' में वह सब सुरक्षित है। इस प्रकार उनका 'आलोचन' वाङ्मय यों है—

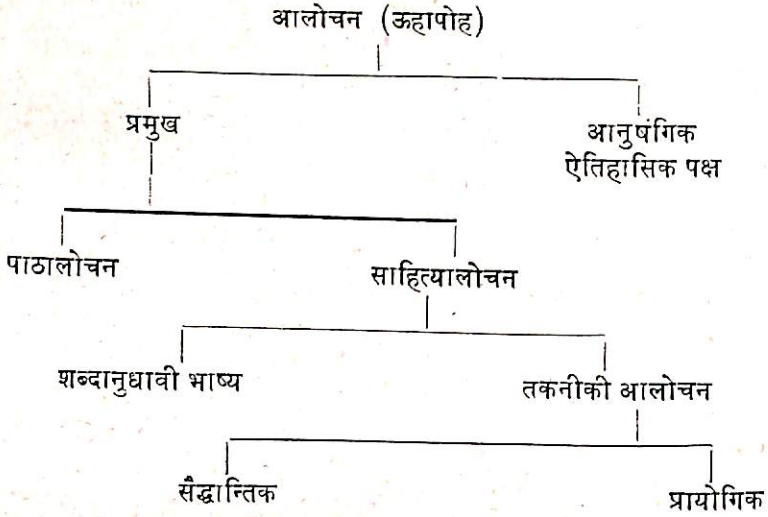

पाठालोचन

आलोचक सर्जक के मूल आशय का साक्षात्कार करता है, उसे दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास करता है, उसमें निहित चारुता का तकनीकी विश्लेषण भी करता है, पर यह सब तभी सम्भव है जब 'पाठ' ठीक हो। सुनते हैं कि आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वान धर्मदासजी केवल यही बताते थे कि कहाँ क्या 'पाठ' ठीक है। अब तो इसका एक व्यवस्थित विज्ञान भी बन गया है। इस दिशा में पण्डितजी ने अथक श्रम किया है, कुछ प्रकाशित है और उससे अधिक अप्रकाशित।

पण्डितजी पाठालोचन की साहित्यिक पद्धति को वैज्ञानिक पद्धति से महत्त्व-पूर्ण मानते हैं। पर महत्त्वपूर्ण मानने का यह आशय भी नहीं है कि वे वैज्ञानिक पद्धति की उपेक्षा करते हैं। नहीं, वे पाठालोचन के लिए केवल वैज्ञानिक पद्धति को अपर्याप्त मानते हैं और साहित्यिक पद्धति के साथ समन्वय को श्रेयस्कर मानते

हैं। उन्होंने अपना पक्ष रखते हुए कहा है—"वैज्ञानिक पद्धति पाठशोध के सम्बन्ध में प्रायः सामान्य नियमों की जाँच और आँकड़े-भर उपस्थित करती है। कहा यह अवश्य जाता है कि पाठशोधक अर्थ पर भी विचार करके पाठनिर्णय करे, किन्तु देखा यह जाता है कि परम्परा का बोध ठीक से न होने से, यह पद्धति अनर्थक पाठों का प्रायः संचय कर लेती है।···वैज्ञानिक प्रक्रिया भारतीय दार्शनिक दृष्टि से विज्ञान होने से जड़ है, साहित्यिक प्रक्रिया दर्शन होने से चेतन है। मूलग्रन्थ के लेखक होने से लेकर सम्पादक तक सभी चेतन प्राणी होते हैं, अतः चेतन का प्रयास सर्वत्र नियत नहीं होता।" इसके साथ-साथ मिश्रजी ने साहित्यिक सरणि में भी सम्भावित प्रमाद पर विचार किया है और कहा है—"साहित्यिक सरणि में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें कोई सूझ अपने ढंग की हो गयी, कवि या कर्ता की पद्धति पर न हो सकी, तो वह कुछ-की-कुछ हो जायेगी—गणेश के स्थान पर वानर हो जायेगा।" इस प्रमाद से बचने का रास्ता यह है कि इस आलोचन में भी वह कवि के अन्तः में प्रवेश कर तादात्म्यापन्न हो जाय। आचार्यजी इसके लिए परम्परा का बोध आवश्यक मानते हैं। वैज्ञानिक पद्धति तटस्थता का आग्रह करती है। ठीक भी है अन्यथा 'गणेश' की जगह अपनी बुद्धि का प्रयोग करने से 'वानर' बन सकता है। वह आँकड़े प्रस्तुत कर तटस्थ ढंग से निष्कर्ष ग्रहण कर लेती है। यद्यपि वह भी पाठचयन या संशोधन में 'लेखानुसंगति' तथा 'विषयानुसंगति' की बात कहकर बौद्धिक हस्तक्षेप स्वीकार करती है— और यही चेतन प्रक्रिया है—क्वाचित्क 'अनैयत्य' को पकड़ने की पद्धति है, तथापि 'गणेश' को जब 'गणेश' ही बने रहने की बात उठती है—तब साहित्यिक साधना और परम्परा-बोध ही काम देते हैं। इस प्रमाद से बचने का एक ही रास्ता है और वह है, कवि या मूल लेखक से तादात्म्य-बोध। इसीलिए पण्डितजी की साहित्यिक पद्धति और प्रक्रिया को अनदेखा नहीं किया जा सकता। उन्होंने तर्क दिये कि समान स्रोत से प्राप्त दो पाठों में से किसे ग्रहण किया जाय? यहाँ आँकड़े निर्णायक होंगे या अन्तः प्रविष्ट साधना-सिद्ध साहित्यिक विवेक? 'चले मत्त गज, घण्ट विराजी' वाला उनका दृष्टान्त प्रसिद्ध है ही।

निष्कर्ष यह कि तादात्म्य-ताटस्थ्य-गर्भ आलोचन का शब्द-साधक-रूप 'पाठालोचन' में भी गहरायी से सक्रिय है।

साहित्यालोचन

शब्दानुधावी मूर्धन्य 'तिलक'कार, भारतीय चिन्तकों का पक्ष है—'विचित्राः शब्दशक्तयः'—शब्द की शक्ति विचित्र है—विचित्र तो है ही, अनवगाह्य भी है। शब्द अभिहित, लक्षित तो करता ही है- इंगित भी करता है। यह अवश्य है कि इंगितज्ञ सब नहीं हो सकते। यह सदसद् विवेकनी पण्डा से सम्पन्न लोग ही हो सकते हैं, जो अनभिहित और अलक्षित को भी महसूस कर लेते हैं—

"अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः"

शब्द के उपासकों ने अभिधा और लक्षणा से भी आगे बढ़कर एक शक्ति की खोज की है और वह है 'व्यंजना'। इस शक्ति की अर्थ की दृष्टि से कोई नैयत्य और सीमा नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो 'व्यक्ति' या 'व्यंजना' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कह दिया —'व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्'—भग्नावरण चित्त ही शब्द की 'व्यक्ति' है। पण्डितजी इस सिद्धान्त में आस्थावान हैं और साधना से उसकी सम्भावनाओं को मूर्त करने में आज भी लगे हुए हैं। इसीलिए उन्हें शब्द पर सर्वाधिक आस्था है। उसी के सहारे रहते हैं—

एक आस विश्वास···

आस्थापूर्वक अपरिमेय शक्ति की उपासना क्या नहीं देती—

करइ तो कहहु, कहा विस्वासा।

शब्द पर उन्हें भरपूर विश्वास है। उनके सामने लोग 'शब्द' के प्रयोग में डरते हैं और वे भी हैं कि बर्दाश्त नहीं कर पाते। अपने आराध्य की टाँग खींची जाय और आराधक चुप रहे, यह हो भी कैसे सकता है। अस्तु। कहना यह है कि सर्जक से भावक की प्रणाली उल्टी है। सर्जक 'अनुभूति' से चलकर 'शब्द' तक आता है और भावक 'शब्द' से चलकर 'अनुभूति' तक पहुँचता है। कवि के ठीक आशय तक पहुँचने के लिए तदन्तः प्रवेश या तादात्म्य आवश्यक है—'गणेश' का साक्षात्कार तभी हो सकता है। आनन्दवर्द्धन कहते हैं—

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थ विमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते॥

जिस सचेतस्क वत्स पर वाग्धेनु प्रीत है, उसकी तत्वार्थदर्शी बुद्धि में 'गणेश' शीघ्र अवभासित हो उठता है, वहाँ 'वानर' की सम्भावना ही नहीं होती। शब्दानुधावी व्याख्या आलोचकों के असामर्थ्यवश लुप्त होती जा रही है, जिसके दो दुष्परिणाम हो रहे हैं, पहला तो यह कि 'गणेश' की जगह 'वानर' भी नहीं मिलता, अर्थात् पंक्ति की व्याख्या ही नहीं हो पाती, दूसरे यह कि इस असामर्थ्य को छिपाने के लिए साहित्येतर ज्ञान-शाखाओं का आवरण डाल दिया जाता है। एक तीसरी अराजकता यह भी फैलती है कि आलोचक का शासन शिथिल हो जाने से सर्जक भी शब्द-साधना में शिथिल हो जाते हैं। दौर्बल्य को ढँकने के लिए तर्क यह देते हैं कि कविता अनुभवसम्वेद्य ही होती है, उसकी व्याख्या सम्भव नहीं। यह ठीक है कि परिणत स्तर पर सर्जक की ओर से 'कविता' में जैसा कुछ 'अनकहा' रह जाता है, उसी प्रकार व्याख्यान के स्तर पर कुछ अव्याख्येय भी रह जाता है, लेकिन असमर्थ लोग इन तर्कों का उपयोग दुरभिसन्धिपूर्वक करते हैं। इस शब्दानुधावी तिलक पद्धति के दुष्कर होने का परिणाम यह होता है कि नये साहित्य के पक्षधर समीक्षकों में से एक भी ऐसा नहीं है जो यह कह सकने का साहस रखता हो कि अज्ञेय, मुक्तिबोध या शमशेर बहादुर की प्रत्येक पंक्ति की व्याख्या वह विश्वसनीय ढंग से कर सकता है। व्याख्येय कवि जिस परम्परा से जुड़ा हो, उस 'परम्परा' का सम्यक्बोध उसकी व्याख्या के लिए अपेक्षित है। बारह वर्ष के अनवरत श्रम का परिणाम है कि जिस

घनानन्द का पंक्तयर्थ आचार्य शुक्ल जैसे मेधावी नहीं कर सके—आचार्य मिश्र ने उसे सफलतापूर्वक विश्वसनीय ढंग से सम्पन्न किया। यद्यपि घनानन्द ने अपने समय की क्षुण्ण परम्परा से हटकर अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नये 'प्रयोग' किये थे। हिन्दी की परम्परा से हटकर फारसी साहित्य की अभिव्यक्ति की परम्परा उनमें विद्यमान है—

कृपाकान मधि नैन ज्यों-त्यों पुकार मधि मौन।

फारसी लिपि का असर अभिव्यक्ति में आ गया है। वस्तुतः जिसने 'परम्परा' को ठीक ढंग से आत्मसात् किया है, वही उसमें निहित सम्भावनाओं को मूर्त करने के लिए 'प्रयोग' करता है और उसका 'प्रयोग' अभिव्यक्ति की लोक-क्षुण्ण जड़ता तोड़ता है और भाषा के स्तर पर भी सर्जना करता है। घनानन्द वर्ण्य एवं माध्यम—दोनों स्तर पर सर्जक थे। 'परम्परा' और 'प्रयोग' जुड़कर ही स्वस्थ विकास करते हैं, छिन्न मूल 'प्रयोग' पकड़ में नहीं आते और वे सर्जना को सातत्य में नहीं निभा पाते। 'परम्परा' और 'रूढ़ि' में अन्तर है। रूढ़ि सम्भवताहीन होती है और परम्परा सम्भवता-गर्भ। 'प्रयोग' इसी सम्भावना को विकसित करता है। 'परम्परा' परात् परम है—'परात्परम' का उपासक ही 'प्रयोग' कर भी सकता है और पकड़ भी सकता है। यदि मिश्रजी ने शब्दसाधना के सन्दर्भ में यह सब न किया होता तो 'घनानन्द' शून्यानन्द हो गये होते। उनका नियम है कि जितने भी कवियों के ग्रन्थों या ग्रन्थावली का सम्पादन किया जाय—अर्थावबोधपूर्वक ही किया जाय। 'मानसलहरी' की साहित्यिक व्याख्या इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। मानसकार के शब्द-प्रयोग और तन्मूलक शब्दसाधना पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में उनका व्याख्यान, जो सम्प्रति मुद्रित होकर लोकभारती से प्रकाशित है, उद्धरणीय है। उसमें उनका वह अथक श्रम जो शब्द से अर्थ तक पहुँचने में होता है, देखने लायक है। गोस्वामीजी किस प्रकार सूक्ष्म अर्थ सम्पन्न पर्यायवाची शब्दों का अर्थ-भेद पूर्वक प्रयोग करते हैं और कैसे सन्दर्भ में उसे प्रयुक्त करते हैं—इसके उदाहरण उस व्याख्यान में भरे पड़े हैं। 'मानस' की भाषा, विशेषकर भरत की भाषा 'दर्पण भाषा' है। जिस प्रकार दर्पणगत प्रतिबिम्ब करगत होकर भी अग्राह्य होता है, उसी प्रकार—

"गहि न जाय अस अद्भुत बानी"

पण्डितजी की शब्दसाधना है कि वे गह लेते हैं। लोगों ने भी 'वर्णानामर्थसन्धानां रसानां छन्दसामपि' की व्याख्या की है और पण्डितजी ने भी की है—अन्तर स्पष्ट है। सामान्यतः वर्ण, अर्थसन्ध, रस, छन्द तथा मंगल का अर्थ किया है—पर पण्डितजी ने शब्दों में विद्यमान उत्तरोत्तर अर्थगत उत्कर्ष का जैसा अनुसन्धान 'यत्नतः प्रत्यभिज्ञा' पूर्वक किया है—वह उन्हीं की तपस्या है। वर्ण से अर्थ का, अर्थ से रस का महत्त्व ग्राहक की दृष्टि से काव्य में उत्कृष्ट है—पर 'रस' की अपेक्षा 'छन्द' गत क्या उत्कर्ष है? जो 'यत्नतः प्रत्यभिज्ञा' प्रयत्नपूर्वक पुनः-पुनः अनुसन्धान नहीं करेगा वह तुलसी की अपरोक्षानुभूति नहीं कर सकता। अपरोक्षानुभूति के लिए श्रवण, पठन-मनन के बाद निदिध्यासन की भी अपेक्षा होती है। एक साहित्यिक

शब्दमर्मज्ञ के लिए ही पतत्प्रकर्षत्व से बचने-बचाने की चिन्ता हो सकती है। मध्य-कालीन साहित्यिक की समझ अब क्वाचित्क होती जा रही है। उसके लिए व्याकरण, तत्कालीन सन्दर्भ और सन्दर्भ-सन्दष्ट अर्थ की अपेक्षा है, जो अब दुर्लभ होती जा रही है। रीतिकाल पर काम करनेवाली बड़ी-बड़ी अहम्मन्य प्रतिभाएँ भी पंक्त्यर्थ के बीहड़ वन की दुखगम्यता देखकर किनारे से ही लौट आयी हैं। आज का हिन्दी जगत् तो उसे 'हिन्दी साहित्य' से काटकर अलग करना चाहता है। वास्तव में इस सबके मूल में अनुरूप शब्द-साधना का अभाव ही है। इसके लिए अनेक कोणों से शब्द को देखना और पहचानना पड़ता है। तिलक-पद्धति की आलोचना का यह जहाज अप्रतिम है।

प्रातिमानिक प्रायोगिक आलोचन

तिलकात्मक आलोचन के अतिरिक्त आलोचन की अन्य प्रणालियाँ भी प्रचलित हैं—निर्णयात्मक, प्रभावात्मक, तुलनात्मक। अब तो विज्ञान और समाजशास्त्र की निष्पत्तियों पर आधारित आलोचनाएँ भी होती हैं। आजकल शैली-वैज्ञानिक आलोचना भी खूब जोर पकड़ रही है। पण्डितजी ने तिलकेतर आलोचना भी की है पर आधार तिलक-प्राप्त आलोच्य सर्जक की उपलब्धियाँ रही हैं। वे तिलक की मथानी से आलोच्य का मन्थन करते हैं, उनके अपने निष्कर्ष होते हैं और उसी से आत्मविश्वस्त होकर तकनीकी आलोचन की ओर बढ़ते हैं। वे प्रभावात्मक आलोचना नहीं करते, प्रतिमानों और ढाँचों को ध्यान में रखकर वस्तुमुखी आलोचना करते हैं। मैं मानता हूँ कि रचनागत सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार-पूर्वक किया गया सर्जनात्मक तथा विश्लेषणात्मक पुनराख्यान ही आलोचना है। सामान्यतः समझा जाता है कि आलोचना या समीक्षा आलोच्य कृति का सम्यक् ईक्षण है—बुद्धिपूर्वक ग्रहण है, बुद्धिपूर्वक ग्रहण ही नहीं, ग्रहण करना भी है। ग्रहण करना और कराना ही नहीं, उसकी त्रुटियों, सीमाओं, सम्भावनाओं और उप-लब्धियों का निरूपण भी है। यह निरूपण निराधार होने की जगह साधार हो तो उचित हो। अतः तदर्थ आचार्यों द्वारा निर्धारित प्रतिमान से आलोचक अपनी बुद्धि का परिष्कार करता है। इस परिष्कृत बुद्धि से वह कृति का मन्थन करता है और गुण-दोष निरूपण करता है—चारुता का आख्यान करता है। कुछ लोगों का कहना है कि रचना चारु होती है और चारुता में बासीपन नहीं होता, वह **नवनवायमान** होती है। प्रतिमान किसी अन्य प्रतिमेय से निकाले गये होते हैं, फिर अन्य प्रतिमेय से निकाले गये प्रतिमान प्रतिमेयान्तर्गत चारुता, जो कि अभूतपूर्व है, का निकष कैसे बन सकता है। फलतः हर नयी रचना की चारुता के अपने प्रतिमान होंगे, जो उसी से निकलेंगे। ऐसी स्थिति में पुरातन शास्त्रीय प्रतिमानों की आलोचना में कोई उपयोगिता नहीं है। फलतः आलोचन में शास्त्रीय प्रतिमानों का प्रयोग ही निरर्थक नहीं है, प्रत्युत् मूल्यांकन और गुण-दोष का निर्णय भी अयुक्तिसंगत है। मूल्यांकन में उपादेयता निहित है और उपादेयता में आलोचक की विषयीपरकता। इसी

प्रकार गुण-दोष जिन प्रतिमानों पर आधारित हैं, एक तो वे प्रतिमान ही अग्राह्य हैं और जब वे ही अग्राह्य हैं तो उन पर आधारित खरा-खोटा का निर्णय और भी अतर्कसंगत है। अतः सर्वोत्तम है तिलकात्मक व्याख्या या व्याख्यात्मक आलोचना।

पण्डितजी तिलकात्मक आलोचना के जहाज तो हैं ही, प्रतिमानाधृत शास्त्रीय और व्यवस्थित आलोचना के पक्ष में भी उनका कहना है कि सृष्टि में प्रत्येक वृक्ष की पत्ती नयी निकलती है पर महज इतने से ही वह नयी जाति नहीं होती, व्यक्ति हो सकती है। प्रतिमान परिणत काव्यशास्त्र को ध्यान में रखकर निकाले जाते हैं —अतः एक ओर वह परिणत काव्य-जातीय रचना पर लागू हो सकता है और दूसरी ओर अवशिष्ट नवता अपने परीक्षण और आलोचन के लिए आलोचन की सूझ को भी अवसर दे देती है। इसीलिए आचार्यगण कहते हैं—शास्त्रीय नियमों का अन्धानुधावन न तो सर्जक को ही करना चाहिए और न ही आलोचक को। उसे कुछ भी करने से पहले तिलकात्मक आलोचन के माध्यम से रचनाकार की मनःस्थिति—सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार करना चाहिए और फिर देखना चाहिए कि उसमें ग्राह्य प्रतिमान की सम्भावना है या नहीं ? यदि है, तभी उसका उपयोग करे, अन्यथा नहीं। यदि सर्जक की सर्जना, रसात्मक-चित्तवृत्ति का प्रसव हो, तभी रसात्मक प्रतिमान का प्रयोग किया जाय। आलोचन की इस पद्धति के स्वीकार का परिणाम यह होगा कि ऊपर के तर्क-प्रतितर्कों की सम्भावना ही न होगी। जो दृष्ट और अपरोक्षानुभूत है—उसके प्रति तर्क-प्रतितर्क क्या ? नैषधकार कहते हैं—"अनुभवं वचसा सखि लुम्पसि ?" अनुभव साक्षिक का तर्क क्या बिगाड़ सकता है ? प्रातिमानिक तकनीकी समीक्षा खतरनाक उसके लिए है, जिसने तिलकात्मक पद्धति से आलोच्य सर्जक के रचनात्मक मानस का साक्षात्कार नहीं किया, परान्तः प्रवेश नहीं किया, तादात्म्यापन्न नहीं हुआ ? जो इस रास्ते चलकर प्रतिमानों का प्रयोग करता है, वह नीम-हकीम की भाँति नश्तर नहीं चलाता, जानकार की भाँति विश्लेषण करता है।

पण्डितजी का प्रमुख क्षेत्र मध्यकाल है, अनुषंगतः अध्यापक के नाते वे आधुनिक रचना-संसार में भी आते-जाते हैं और वहाँ भी उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा सक्रिय होती है, पर आलोचन की व्यवस्थित पद्धति सर्वत्र लक्षित होती है। प्रत्येक सुन्दर रचना व्यवस्थाबद्ध होती है। व्यवस्था और सौन्दर्य का अविनाभाव सम्बन्ध है। पण्डितजी की प्रतिभा उस 'व्यवस्था', 'प्रतिमान' अथवा 'ढाँचे' को पकड़ लेती है और बिन्दु-दर-बिन्दु उसे उघाड़कर रख देती है। इसीलिए इनकी समीक्षा, शास्त्रीय और व्यवस्थित मानी गयी है। पण्डितजी भारतीय काव्यशास्त्र, दर्शन और शब्द-शास्त्र के अभ्यासी हैं—अतः उसी सरणि पर उनकी आलोचना चलती है। 'बिहारी' को ही लें। उसमें रीतिशास्त्रीय सभी प्रतिमानों का प्रयोग है। भारतीय काव्यशास्त्र के साथ-साथ पण्डितजी पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी प्रभाव है। शुक्लजी का 'प्रभाव' इनकी नस-नस में उतर आया है—अतः उनकी विधेयवादी पद्धति के भी इनमें दर्शन होते हैं। प्रयत्न करते हैं कि तात्कालिक परिस्थितियों और आलोच्य

कृति में कार्य-कारण भाव की संगति दिखायी जाय। 'बिहारी' में वह भी है। मध्य-काल 'प्रेम' का गान, 'शृंगार' की अभिव्यक्ति क्यों करता है—बिहारी 'दोहा' और घनानन्द 'कवित्त' जैसे मुक्तक क्यों लिखते हैं ? रीतिकालीन कवि कृष्ण और राधा के व्याज से लौकिक शृंगार की अभिव्यक्ति क्यों करते हैं—पण्डितजी विधेय-वादियों से प्रभावित शुक्ल-पद्धति का प्रयोग करते हैं और तत्कालीन परिस्थितियों में उसके कारण ढूँढ़ते हैं। कभी-कभी पण्डितजी शुक्लजी के प्रभाव से मुक्त होकर भी बात कह जाते हैं ? तब उनमें अद्भुत दीप्ति दिखायी पड़ती है। एक बार विक्रम विश्वविद्यालय की हिन्दी अध्ययनशाला में "सूरवल्लभपंचशती' पर भाषण देते हुए कह गये कि तुलसी से सूर और सूर से कबीर अधिक मौलिक हैं। पर जब वे सूर साहित्य में वात्सल्य ही सर्वोपरि कहते हैं तब शुक्लजी का मर्यादावाद या शुद्धतावाद हावी हो जाता है। घनानन्द पर उन्होंने कम लिखा, पर कक्षाओं में उससे अधिक धारावाहिक मन्तव्य प्रकाशित किया है। उससे लगता है कि घनानन्द की समीक्षा के लिए घनानन्द की रचनाओं से ही प्रतिमान निकालकर उपस्थापना और विश्लेषणा की है। प्रशस्तिकार ब्रजनाथ द्वारा निर्दिष्ट प्रतिमानों का सहारा लिया है। नाद-चित्र और अर्थचित्र के धनी पद्माकर की समीक्षा में पुनः शास्त्रीय प्रतिमान आ गये हैं। मुझे स्मरण है और मेरे पास नोट भी है—श्री रामदास के पास पण्डितजी की 'प्रसाद' पर अपनी आलोचनात्मक धारणाएँ लिखित थीं। उसमें प्रसाद को समझने के लिए नूतन-पुरातन दार्शनिक और काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों का अपने ढंग से नितान्त आवर्जक विश्लेषण है। परम्परागत प्रतिमानों को विश्वसनीय ढंग से आवर्जक प्रयोग करने के ही कारण वे 'नव्यशास्त्रीय आलोचक' माने जाते हैं। उन्हें विश्वास है कि क्रमागत मान्यताएँ कुछ ऐसी हैं जो आत्मनिहित सम्भावनाओं की युगीन व्याख्या चाहती हैं। इस प्रकार भारतीय मान्यताएँ स्थिर भी हैं और अपनी युगीन सम्भावनाओं में परिवर्तनशील—फलतः प्रगतिशील।

सैद्धान्तिक आलोचना

मिश्रजी की मूल साधना अन्तःप्रवेशपूर्वक सृष्टि का रहस्य जानना और जनाना रहा है। प्रायः उनकी यही वृत्ति काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी सक्रिय रही है। भारतीय काव्यशास्त्र के वे अध्येता रहे हैं और काशी के दिग्गज आचार्य पं. दामोदरजी शास्त्री से भी इस क्षेत्र में काफी कुछ अर्जित किया है। उनकी विशेषता पहली तो यह रही है कि वे गहराई से पक्ष-प्रतिपक्ष पूर्वक, भेदक विशेषताओं के साथ शास्त्रीय सिद्धान्तों को समझ लेते हैं। उनकी दूसरी विशेषता यह है कि समझी हुई बात को, चाहे वह कितनी भी जटिल हो, हिन्दी की प्रकृति में नितान्त बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत करते हैं। तीसरी विशेषता यह है कि इस प्रस्तुति में आधुनिक शब्दावली और शैली का, जो उनके द्वारा उद्भावित है, प्रयोग करते हैं। मध्यकालीन साहित्य की गहरी समझ के लिए, विशेषकर उत्तरमध्यकालीन साहित्य के लिए, भारतीय काव्यशास्त्र की गहराई से पकड़ अनिवार्य है—इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र के

तो पण्डित हैं ही, आधुनिक साहित्य की विधाओं और प्रवृत्तियों को विश्लेषित करने के लिए पाश्चात्य काव्यचिन्तन का ज्ञान भी करना पड़ा और वाङ्मय-विमर्ष में उसकी संक्षिप्त, बोधगम्य किन्तु सारवान स्थिति उपलब्ध है। उनकी काव्यशास्त्रीय समझ पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी अमिट प्रभाव है। शुक्लजी का हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक सुस्पष्ट यदि कोई उपस्थापन कर सकता है, तो यह आचार्य मिश्र ही हैं। शुक्लजी की तमाम निष्पत्तियों और मान्यताओं को उन्होंने बड़े कैंड़े से समझाया है।

आचार्य मिश्र रसवादी हैं। इसीलिए वे काव्य को 'कला' के अन्तर्गत नहीं मानते। वे मानते हैं कि कला का उद्देश्य है मनोरंजन और काव्य का लक्ष्य है मनोरमण। मनोरमण सुख और दुःख— उभयविध भावों में होता है—फलतः ग्राहक सहृदय की चित्तवृत्ति का लोकमंगलोपयोगी विस्तार होता है। सुखदुःखात्मक अनुभूति काव्य की परिधि में आकर रसात्मक हो जाती है, उसमें वह विशेषता आ जाती है कि सहृदय के हृदय को रमा ले। इनकी दृष्टि में 'काव्य' सामाजिक वस्तु है, उसकी व्यावहारिक सत्ता है, उसमें सत् का प्रतिबिम्ब है, वह कवि के 'सत्व' से सृष्ट 'सत्ता' है —'सत्व' ही 'सत्ता' की संधायिका है। उनकी धारणा है कि कर्ता की रसमयी काव्यानुभूति वर्ण के माध्यम से व्यक्त होकर सहृदय में रसात्मक चरितार्थता पाती है और उसके हृदय का विस्तार करती है। काव्य में जो 'अर्थ' और 'भाव' वर्ण्य के रूप में गृहीत होते हैं, उनका 'स्रोत' समाज है—इसीलिए उससे प्राप्त सामग्री सामाजिक-समाजानुमोदित अथवा उचित होती है। भारतीय रसवाद या रससिद्धान्त पश्चिम के सौन्दर्यवाद से इसलिए महनीय है कि जहाँ रस ग्राहक के चित्त की 'अर्हता' को मिटाकर सार्वभौमता प्रदान करता है—व्यष्टिहृदय को समष्टि हृदय से एकरस कर देता है, आत्म-प्रत्यभिज्ञा करा देता है, मानवता को उद्रिक्त करता है, वहाँ सौन्दर्य अनुभूत होकर केवल प्रशस्तिगान के लिए मुखर करता है और अपेक्षाकृत क्षणिक भी होता है, इसीलिए तुलनात्मक दृष्टि से उनकी आस्था भारतीय रसवाद में है। उन्हें अलंकार, रीति, वक्रता और व्यंजना इसी के मेल में रुचिकर है। औचित्य के वे पक्षधर हैं। अलंकारों की बारीकियाँ जानते हैं और शब्दशक्तिबोध के सन्दर्भ में पं. रामदहिन मिश्र को परास्त कर चुके हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इन्होंने दो प्रवाहों का उल्लेख किया है —चारुत्व प्रवाह और अनुभूति प्रवाह। प्रथम का सम्बन्ध श्रव्य-काव्य से है और द्वितीय का दृश्यकाव्य या नाट्य से है। प्रथम का सम्बन्ध कर्ता और वर्ण्य से तथा द्वितीय का ग्रहीता और अनुकार्य से है। प्रथम प्रवाह में अलंकार, रीति तथा वक्रता का उत्तरोत्तर उत्कर्ष है और द्वितीय प्रवाह में रस तथा उस तक पहुँचने की अनुमितिवाद, ध्वनिवाद, तात्पर्यवाद तथा मानवतावाद का उन्मेष है। शुक्लजी के साथ वे काव्य को मनोमय-कोष तक ही रखना चाहते हैं और पाश्चात्य समीक्षकों के उस अध्यात्म और व्यक्तिवैचित्र्य का विरोध करते हैं, जो काव्य में समष्टि की जगह व्यष्टि को महत्त्व दिलाते हैं।

काव्यप्रभेद को समझाने में उनका सर्वथा अपना ढंग है। वे अन्तःकरण को काव्य का उत्स मानते हैं (पहले ही कहा गया है कि वे काव्य को मनोमय-कोष तक ही रखना चाहते हैं) और उसके चतुर्विध व्यापारों को केन्द्र में रखकर काव्यप्रभेद करते हैं। उनका कहना है कि अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मन संकल्पविकल्पात्मक है—भावमय है, अतः उसका प्राधान्य काव्य एवं नाट्य में रहता है। चित्त का स्वरूप है अनुसन्धानात्मक। अनुसन्धान घटनाक्रम में रहता है—फलतः इस वृत्ति का प्राधान्य होता है—कथा (उपन्यास-कहानी) में, काव्य में; बुद्धिवृत्ति उदग्र रहती है—निबन्ध और आलोचना में। पहला रचनात्मक होता हुआ भी विचारोत्तेजन पर्यवसायी होता है और दूसरा समीक्षात्मक प्रभेद है। अहंता व्यक्तित्व है जो शैली के रूप में सर्वत्र जागरूक भेदक तत्त्व के रूप में परिणति प्राप्त करता है। निश्चय ही इस तरह से काव्यरूप पर किसी ने भी प्रकाश नहीं डाला।

काव्यभेद का उल्लेख साहित्यदर्पणकार ने अवश्य किया था, पर काव्य का भेद 'काव्य' कुछ जँचता नहीं था, अतः उसकी मुख्य विशेषता के परिचायक विशेषण 'एकार्थ' को जोड़ दिया। इस प्रकार 'एकार्थ काव्य'-जैसी संज्ञा का हिन्दी में सोदाहरण प्रवर्तन का श्रेय आचार्य मिश्र की ही सूझबूझ को है।

भारतीय परम्परा अपने चिन्तन को अपना न कहकर 'परम्परा' से जोड़ती है। गीताकार ने 'कर्मयोग' को परम्परा प्राप्त ही कहा था, बुद्ध ने भी अपने बोध का उत्स परम्परा में ही स्वीकार किया था, जैनों के तीर्थंकर 'परम्परा' में ही हैं। काव्यशास्त्र तो दर्शनशास्त्र, भारतीय प्रणाली ही है, अपने चिन्तन को अनादि परम्पराप्राप्त कहने का। भारतीय चिन्तक मूल मान्यता को 'व्यक्ति' से नहीं, परम्परा से जोड़ता है, स्वयं को वह व्याख्याकार मात्र कहता है। इसी परम्परा में पण्डितजी भी अपने को व्याख्याकार ही कहते हैं, वे 'आचार्य' होने का दम्भ नहीं भरते। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में लोग 'नवीन मान्यता' लेकर आचार्यत्व की बुभुक्षा शान्त करते हैं—पर उनका क्षोदक्षम विचार हो तो धुर्रे-धुर्रे उड़ जायें। विचार की नींव बड़ी गहरी होती है, हर मान्यता उससे जुड़ी होती है और गहरी नींव सबके बूते की बात नहीं है। पण्डितराज जैसी प्रातिभ विभूति ने भरतमुनि के वचनों के समक्ष अपने को झुका दिया और अतिरिक्त रस-प्रकल्पन की बात अस्वीकार कर दी। मैं यह नहीं कहता कि 'नया' कहना केवल दम्भ है—पर इतना अवश्य कहता हूँ कि कपिल की 'समाधि' नयी स्थापना के लिए अपेक्षित है। भारतीय प्रकृति का चिन्तक मानता है कि 'सत्य' पूर्ण है, जो पहले से ही विद्यमान है। वह युगानुरूप सम्भावनाएँ विशिष्ट प्रतिभाओं द्वारा मूर्त कराता है। वह इतना 'सामान्य' है कि हर 'विशेष' उसमें से निकाले जा सकते हैं, यह कालविशेष में नयी व्याख्या के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं। इस गहरी और भारतीय प्रकृति की समझ से जुड़े रहने के कारण पण्डितजी अपने को 'व्याख्याकार' ही मानने में औचित्य समझते हैं, जो अन्तःप्रवेश से ही सम्भव है।

पण्डितजी निरन्तर ऊहापोहात्मक आलोचन में लगे रहते हैं--सर्जक आचार्यों को समझने में लगे रहते हैं। इस समझ को साफ करने के सन्दर्भ में कई आनुषंगिक उपलब्धियाँ हुई हैं, जिनका उल्लेख 'हिन्दी साहित्य का अतीत', और 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में हुआ है। कहा गया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
— — --
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

इतिहास और पुराण का ज्ञान वेद के समुपबृंहण में अपेक्षित है। ज्ञानमय वेद ज्ञानी से नहीं, अज्ञानी से डरता है कि पता नहीं अपनी अज्ञता का पत्थर कहाँ फेंक दे और वह क्षतविक्षत हो जाय। सो, पण्डितजी सर्जक-आचार्य प्रणीत 'वेद' को समझने के लिए अपने ज्ञान के क्षितिज का निरन्तर विस्तार करते रहते हैं—इस क्षेत्र में उनके असन्तोष के 'भूमा' का दर्शन करने लायक है। जहाँ से जो भी नूतन जानकारी मिल जाय, उसके लिए वे निरन्तर जागरूक रहते हैं। राजनीति, मनोविज्ञान, ज्योतिष, आयुर्वेद—आदि प्राचीन-नवीन ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में तो रहते हैं ही, दैनन्दिन की गतिविधियों को भी संचार-माध्यमों से पकड़ते रहते हैं। अस्तु, आलोच्य साहित्य और उसमें निहित प्रवृत्तियों को समझने-समझाने के लिए अनेकविध गुत्थियों को देखना और सुलझाना पड़ता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने जहाँ एक ओर एक ही नाम के अनेक लेखक-सर्जक ढूँढ़ निकाले और किसकी कौन-सी कृति है—यह स्पष्ट किया, वहाँ यह भी स्पष्ट किया कि विद्यापति को 'हिन्दी' का क्यों माना जाय। भाषा की प्रकृति की पकड़ सबको नहीं होती। हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालखण्डों का नामकरण अन्तरंग वर्ण्य-भाव को बताकर किया—वीरकाल, भक्ति-काल, शृंगारकाल तथा प्रेमकाल जैसी संज्ञाएँ आविष्कृत कीं। शृंगारकाल के बहु-प्रचलित रीतिसिद्ध, रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त-जैसे उपभेदों का आविष्करण और स्थापन आपने ही किया। इनके अनुसन्धान-लब्ध रत्नों की एक लम्बी तालिका है, जिसका विवरण 'अतीत' से प्राप्त किया जा सकता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि पण्डितजी का मूल व्यक्तित्व 'सर्जक' और 'आचार्यसमीक्षक' के अन्तस् में 'शब्द' की डोर पकड़कर न केवल गहरे उतरने का है, अपितु इस प्रक्रिया से उपलब्ध रत्नों को अपनी प्रतिभा से खराद-कर नवज्योति भरने का भी है। वे अपने को 'व्याख्याकार' कहने में गौरव का अनुभव करते हैं और तदर्थ शब्दब्रह्म की साधना में अनवरत निरत रहते हैं। शब्दब्रह्म की साधना उनके लिए ऐहिक-आमुष्मिक लोकों के बीच का सेतु जान पड़ता है, जिस पर चढ़कर पिपीलिकाएँ भी बिना श्रम पार जा सकती हैं। रामचन्द्र शुक्ल उनके आचार्य हैं, पर उनके चिन्तन सूत्रों को मिश्रजी ने न केवल समझा-समझाया, प्रत्युत् आगे भी बढ़ाया। पं. नन्ददुलारे वाजपेयी का क्षेत्र मुख्यतः आधुनिक साहित्य है, उसमें भी छायावादी विशेष। इनकी विशेषता मान्यताओं को लेकर स्वतन्त्र

चिन्तन की है, शब्दानुधावी-मर्म-दर्शन की नहीं। निराला की कतिपय रचनाओं में शब्दानुधावी होने का प्रयत्न है, पर प्रभावी नहीं हो सका। डॉ. नगेन्द्र ने आधुनिक साहित्य की समीक्षा से अपना कार्य आरम्भ किया, पर धीरे-धीरे सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में भारतीय पक्ष को अपने प्रातिभ सौरभ का भाजन बनाया। देव पर काम अवश्य किया, रीतिकाव्य की भूमिका अवश्य लिखी, पर वहाँ भी मान्यता केन्द्रित विवेचन ही प्रमुख रहा, सर्जनात्मक साहित्य के अन्तःदर्शन का प्रयास नगण्य ही रहा। उनके ऊहापोह की मुख्य भूमि भारतीय काव्यशास्त्र बना। प्रायोगिक समीक्षा में मनोविज्ञानमुखी हो गये। पं. हजारीप्रसादजी का पक्ष है कि सर्जक का 'सत्य' प्रथम स्तर का है और आलोचन का परवर्ती, दूसरे दर्जे का। अतः उनका प्रातिभ संरम्भ रचनात्मक साहित्य की सृष्टि पर है, शेष ऊहापोह उसी की तैयारी है। वे निबन्धकारों के पथप्रदर्शक हैं — हिन्दी में। संस्कृत साहित्य को मेघ की तरह बरसाकर उपन्यासों की सृष्टि की है उन्होंने। सो, इन सब सामयिक समीक्षकों के बीच अपना स्थान जो मिश्रजी ने बनाया है — वह शब्द-ब्रह्म-साधक, परान्तः प्रवेशी योगी भाष्यकार का है।

कविवर्य बच्चन के काव्यादर्श

कविवर्य बच्चन सर्जक कवि तो हैं ही, एक सजग अध्येता और कुशल प्राध्यापक भी रहे हैं। उनका अध्येता निरन्तर जागरूक रहा है। इन सबके साथ-साथ और इन सबके ऊपर उनका निश्छल, निर्व्याज और परदुःखकातर मानवीय रूप है, जिसका यशोगान उनके सम्पर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति मुक्तकण्ठ से करता है। सो, इन समस्त उपादानों से बने उनके कवि-व्यक्तित्व का चिरस्मारक उनका भरापूरा काव्यजगत् है।

अपनी रचनाओं और विचारपरक गद्यात्मक अभिव्यक्तियों में श्री बच्चन ने अपनी काव्य सम्बन्धी अनेकविध धारणाएँ व्यक्त की हैं। प्रत्येक कवि-चिन्तक प्रायः अपनी रचनाओं के साक्ष्य पर ही उसका शास्त्र रचता है। आचार्य शुक्ल तथा आचार्य वाजपेयी की काव्यविषयक मान्यताएँ इस तथ्य की साक्षी हैं। आलोचक अपने प्रिय कवि या काव्यधारा को मन में रखकर उनका निर्माण करते हैं। छायावादी काव्यप्रवाह के कविगण भावतत्त्व---हृदयपक्ष—पर आध्यात्मिक बल देते हैं। उत्तर छायावादी कवि--जिनमें श्री बच्चन का भी मूर्द्धन्य स्थान है—काव्य में भावतत्त्व को ही महत्त्व देते हैं। वैसे भी बच्चन ने कहा है --"न कवि को कविता 'वाद' को ध्यान में रखकर लिखनी चाहिए, न पाठक को 'वाद' को ध्यान में रखकर पढ़नी चाहिए।

"समालोचक को देशकाल समाज से किसी कवि की संगति बिठाने के लिए उसे किसी वाद में बाँधने की आवश्यकता पड़ सकती है, पर यह हमेशा देखा गया है कि प्रतिभावान् कवि और लेखक 'वाद' में सहज नहीं बँधते। मेरी ऐसी धारणा है कि 'वाद' दूसरी, तीसरी, चौथी श्रेणी के कवियों के लिए उपयोगी होता है, प्रथम श्रेणी के कवि के लिए नहीं। कहने का तात्पर्य है कि युग की कुछ धारणाएँ होती हैं। कुछ लोगों को इसके साथ न होने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहता, कुछ युग के साथ बहते हुए भी अपनापन रखते हैं। ये धारा के बाहर भी उतने ही रहते हैं, जितने धारा के बीच।

"संक्षेप में जीवन 'वाद' से बाहर है और कविता टेक्स्टबुक में रखने को नहीं लिखी जाती।...कविता का व्यापक क्षेत्र जीवन है, उसे जीवन से ही लेना और

जीवन को ही देना है।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि जिस जीवन का कलात्मक उद्रेखण करता है, वह किसी देश-काल से सम्बद्ध होता है, अतः कवि युग-धारणा से अपने को तटस्थ नहीं रख सकता—अर्थात् किसी 'वाद' या धारा से सम्बद्ध हो सकता है, फिर भी उसकी व्यक्तिगत विशेषताएँ उसे धारा से बाहर भी रख सकती हैं। अर्थात् छायावादी काव्यप्रवाह से बच्चन के सम्बद्ध होने की बात हो सकती है फिर भी उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ छायावाद से बाहर भी उन्हें रखती हैं। बहरहाल, इस 'वाद' से हटकर भी देखें तो भी बच्चनजी मानते हैं—'कविता को जीवन से निकलना चाहिए। जीवन में बैठना चाहिए। उसमें भीगनेवालों का महत्त्व है, उस पर पन्ने रँगनेवालों का नहीं।'[2] निश्चय ही ये पंक्तियाँ 'कविता' उसे सिद्ध करती हैं, जो पाठक को भिगो दे, भावमग्न कर दे। कविता भावमग्न तभी कर सकती है, जब भावमग्न हृदय से समुद्भूत हो—जिस कविता के उद्गम में ही भाव न होगा, उसकी परिणति में 'भाव' कहाँ से आ जायेगा? बच्चनजी अपनी कविता के सन्दर्भ में कहते हैं—'वे जीवन के मार्मिक क्षणों को सजीव करने के लिए स्मृति में आपसे आप चढ़ती हैं।' इससे यह भी स्पष्ट है कि बच्चनजी के अनुसार काव्य की अन्तःसत्ता है—भाव या अनुभूति, ऐसी भाव या अनुभूति जो पाठक को भिगो दे। कारण, उस अनुभूति का सम्बन्ध जीवन के मार्मिक क्षणों से है। मार्मिक होने के ही कारण, जहाँ एक ओर उसमें ईमानदारी और सचाई है, वहीं दूसरी ओर उसमें व्यक्तिगतता होते हुए भी सर्वसंवेद्यता की स्थिति है। यद्यपि जीवनानुभूति ही काव्यानुभूति का आधार है फिर भी जब जीवनानुभूति काव्यानुभूति में परिणत होती है, तब उसका प्रभावी अंश तो रह जाता है, किन्तु व्यक्तिगत हानि-लाभ से असम्बद्ध होने के कारण वह उद्वेजक नहीं होती—विपरीत इसके 'मग्न' कर देती है। इसीलिए कविता मनोरंजन नहीं है, मनोरमण है। इसीलिए कला के अन्य रूपों से काव्यकला महत्त्वपूर्ण हो जाती है। चिन्तकों की धारणा भी इस निष्कर्ष की पुष्टि करती है—

> "Arts is the creation of individual, and unique forms of gesture of any one of the whole realm of human feeling at all leveles, stages and phases in the adventure of life—technological, political, moral, religious, philosophical, touching all without being tethered by any such creation and has in it the quality of compelling the evocation of those forms in whosoever that takes the attitude of the artist"[3]

अर्थात् कला व्यक्ति की सृष्टि है, साथ ही प्राणवन्त जीवनयात्रा के सन्दर्भ में अनुभूत समस्त भावनाओं में से किसी एक का अनुपम प्रकाशन है। प्रकाश्य भावनाओं में सम्पृक्तता के बीच निस्संगता भी आवश्यक है। ग्रहण की दृष्टि से इस सृष्टि में कलाकार की दृष्टि का भी उन्मीलन विवशता के साथ होना आवश्यक है।

इन सब उद्धरणों और तर्कों के आलोक में स्पष्ट है कि कविता का सम्बन्ध

प्राणवन्त जीवन के सन्दर्भ में अनुकूल भावनाओं से है—ऐसी भावनाओं से, जिनके मूल में 'दृष्टि' भी निहित हो। यह भावना किसी भी स्तर की हो सकती है—स्तर वैयक्तिक भी हो सकता है और सामाजिक भी, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक भी, मन के भी किसी स्तर से वह उठ सकती है। बच्चनजी इन सबके साथ इतना आवश्यक मानते हैं कि वह भावना में भिगो स पाठक को। बच्चनजी के ही वक्तव्य के अनुसार उनकी आरम्भिक रचनाएँ मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, एकान्त संगीत, निशा निमन्त्रण, आकुल अन्तर—व्यक्तिगत सन्दर्भों की हैं। फिर ये सबको किस प्रकार भिगो सकेंगी? इसीलिए बच्चनजी ने शर्त रखी है कि ये भावनाएँ जीवन के मार्मिक क्षणों की हों। मार्मिक क्षण मानव-मात्र के स्वभाव के अनुरूप होने से व्यक्तिगत होकर भी मानवीय और सर्वसम्बेद्य बन जाते हैं।

बच्चनजी कविता को अपने सन्दर्भ में 'जग-जीवन-काल' के प्रति व्यक्ति का संघर्ष मानते हैं।[4] और मानते हैं कि—'कविता उनके पास जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बनकर आयी।'[5] इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि कविता फैशन से नहीं, अनिवार्यता से फूटती है, आरामतलबी से नहीं, 'संघर्ष' से प्रवाहित होती है। प्राणवन्त जीवन वही जीवन है, जो मूल्यों के जीने के लिए संघर्ष से आपूरित हो। उनका संघर्ष मानवीय है—इसकी पुष्टि में 'त्रिभंगिमा' की रचनाएँ लें—

अन्तर से या कि दिगन्तर से आयी पुकार—
तम आसमान पर हावी होता जाता था
मैंने उसकी ऊषाकिरणों को ललकारा
इसको तो खुद दिन का इतिहास बतायेगा
कि जीत हुई किसकी और कौन हट हारा।

कविता के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है और वह यह कि कविता दायित्वबोध या किसी बाहरी दबाव में उभरती है अथवा अन्तःप्रेरणा से लिखी जाती है। बच्चनजी का इस मामले में बहुत स्पष्ट निर्णय है—'ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी मैंने कविता इसलिए लिखी कि और लोग लिख रहे हैं या कविता इसलिए लिखें कि उससे किसी वाद को बल देना है या हिन्दी की सेवा करनी है या किसी ऐसे ही कारण से···अपने अभ्यासकाल की कविताएँ मैंने अपनी अन्तःप्रेरणा से लिखी थीं···मैं इस तरह कहना चाहूँगा कि शब्दों में कवि होने के पूर्व मैं जीवन में कवि बन गया था।'[6] मेरा जीवन कुछ ऐसी अनुभूतियों से टकरा चुका था, कुछ ऐसी भावनाओं से मथित हो चुका था कि किसी प्रकार की अभिव्यक्ति उसके लिए अनिवार्य थी। निष्कर्ष यह कि 'कविता' वह जो 'हो' जाय, वह नहीं जो 'की' जाय।

भावनाओं के अनेक स्तर होते हैं—छायावादी कवियों में से अनेक 'उस पार' की बात पसन्द करते थे या अन्योक्ति पद्धति में बोलते थे। 'प्रकृति' को आध्यात्मिक छाया में रँगकर देखते थे। बच्चनजी भावना के स्तरों के विषय में अपना अभिमत देते हुए कहते हैं—

किन्तु जीवन की हदों के बीच में भी
कम नहीं कहने सुनाने को पड़ा है
मानवों के दिल, दिलों की हसरतों को
आस को औ प्यास को औ वासना को
शोक, भय, शंका, महत्त्वाकांक्षा को
आज रखा जा नहीं सकता दबाये
मैं अभी जिन्दा, अभी यह शवपरीक्षा, मैं तुम्हें करने न दूँगा
आँख मेरी आज भी मानवनयन की गूढ़तर तह तक उतरती
आज भी अन्याय पर अंगार बनती, अश्रुधारा में उमड़ती
जिस जगह इंसान की इंसानियत लाचार उसको कर गयी है
तुम नहीं यह देखते तो मैं तुम्हारी आँख पर अचरज करूँगा

(गीत 11, आरती और अंगारे)

बच्चनजी ने स्पष्ट ही अध्यात्म की कुहेलिका से हटकर पार्थिव जीवन और मानवीय धरातल से समुत्थित भावनाओं को महत्त्व दिया है। स्पष्ट ही उनकी दृष्टि में—

'कविता, जगती के प्रांगण में
जीवन की किलकारी'—

कविता इसी धरा पर जीवन के स्रोत से उभरती हुई उषाकिरण है। कविता में निहित 'मानवीय दृष्टि' से पाठक की भावना मँज-मँजाकर मानवीय बन जाती है। बच्चनजी को लोग ह्रास-निराशा और 'वैयक्तिक भावनाओं' का कवि कहते हैं—जबकि वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि यदि सचमुच उनकी कविता में ऐसा है तो समझना चाहिए कि उनकी जाति पतन की ओर जा रही है और अपना कण्ठ गँवा चुकी है। जातियाँ जब उत्थान के निमित्त अभियान करती हैं तो सर्वप्रथम कण्ठ से ही मुखर होती हैं। बच्चनजी की दृष्टि से सम्प्रति विश्व मानस का मन्थन हो रहा है—मन्थन में विष-अमृत सभी निकलते हैं और बिना मन्थन के रत्नों की कला निकलती ही नहीं। वे कहते हैं कि शान्ति में नहीं, कला मन्थन में उभरती है—

कला नहीं बसती पत्थर में
स्वर में, रंगों की श्रेणी में
बाह्यता में, कण्ठ में, लेखनी में
तूली, कीली, छेनी में
कोई मंदर जब जन-अन्तर
मन्थन करता, स्वप्न उघरते
कला उभरती, कविता उठती
कीर्ति निखरती, विभव बिखरते,

(गीत 11, आरती और अंगारे),

मनोविज्ञान के पण्डितों के साथ सहमत बच्चनजी कभी कहते हैं कि जीवन की अमूर्त आकांक्षाएँ ही रूपायित होकर कभी कला बन जाती हैं—

स्वप्न, जीवन का, कला है, जो कि जीवन
में, निखरकर वह कला से झाँकता है
यह महज दर्पण नहीं है, दीप भी है
जो अमरता के शिखर को आँकता है

लोगों की धारणा है कि कविता समाज और जीवन का दर्पण है—प्रतिबिम्ब है, पर कविवर बच्चन कविता को, सतही आकार को प्रतिबिम्बित करनेवाले दर्पण से ही तुलित कर शान्त रह जानेवाले नहीं हैं—वे मानते हैं कि कला वह 'दीप' है जो अमरता के शिखर का आकलन करती है।

कविता केवल अनुरूप विषय और वस्तु के धरातल पर ही संघर्ष नहीं है। अभिव्यक्ति के धरालत पर भी वह संघर्ष है। अनुरूप और अपनी सूक्ष्मता में अपरिमेय गन्ध बिखरनेवाली भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम भाषा में भी अपरिमेय क्षमता होनी चाहिए। भारतीय चिन्तकों ने भाषा की इसी अपरिमेय क्षमता को व्यंजना नाम दिया है। कविवर्य बच्चन ने भाषा के धरातल पर भी संघर्ष किया है, तभी तो अनुभव की गहराइयों को मूर्त कर सके हैं और कवि मात्र के लिए आवश्यक मानते हैं कि वह माध्यम को मँज-मँजाकर शक्त बनावें। जिसकी भाषा कुछ फार्मूलों में बँध गयी वह जीवन की अपरिमेयता से विच्छिन्न हो गयी—वह 'कला' की भाषा ही नहीं रह गयी। आज वर्ष, मास और दिनों में भी भाषा फार्मूलाबद्ध हो जाती है, इसीलिए कला के तेवर जल्दी-जल्दी बदलते जा रहे हैं—इसलिए मंजिलों के मील-पत्थर अब ढूँढ़े नहीं मिलते। इसलिए बच्चनजी ने कहा है—'वैसे मेरी राय है कि प्रथम कोटि की प्रतिभा न नयी कविता को मिली है और न नवगीत को।'[7] बच्चनजी कहते हैं—

फारमूलों में कभी बँधना न जीवन
शब्द संख्या फारमूले ही नहीं तो और क्या है?
तथ्य केवल
व्यष्टि करके मुरजता भी प्राप्त
अपने आप में सब कुछ नहीं है···
सिद्ध प्रतिभा तो वही है
सामने जिसके निखिल संसार
मुँह बाये खड़ा है

भवानी भाई ने भी कहा है कि जीवन ऐसा हो जिसमें अनुभूति सिमटी हुई न हो। उन्होंने कहा—'दीवारों का नहीं मैदानों का छन्द चाहिए।' वे मानते हैं कि आदमियों की तरह शब्द के भी निकट कष्ट के क्षण हैं। शब्द के विषय में भी बच्चनजी का मत है—

शब्द की भी
जिस तरह संसार में हर एक की
कमजोरियाँ, मजबूरियाँ हैं

शब्द सबलों की
सफल तलवार है तो
शब्द निबलों की
नपुंसक ढाल भी है

लोग कहते हैं कि हिन्दी अशक्त है। कहने को जीभ है—तो कुछ भी कह सकते हैं। भाषा न तो स्वयम् में अशक्त होती है और न शक्त। यह तो प्रयोक्ता है जो सबल और निर्बल होता है—उसी का बल भाषा में संक्रान्त होता है। निष्कर्ष यह कि हमारी भाषा अशक्त है—का अर्थ है हम अशक्त हैं। भाषा को माँज-माँजकर अपरिमेय भावनागत बारीकियों की व्यंजना के निमित्त भाषा में भी अपरिमेय क्षमता भरी जाती है।

अन्ततः एक बात कहकर इस निबन्ध को समाप्त करता हूँ। बात है—काव्य और जीवन के साथ आस्था की। आस्थापूरित जीवन का ही काव्य से सम्बन्ध है—आस्था-गर्भ कला 'किलकारी' नहीं, मृत्युपूर्व की 'चीत्कार' है। बच्चनजी कहते हैं—

हो किसी का
एक तरफी दान कवि का नहीं होता
... ...

इसीलिए ऊँचाई की अन्तिम उठान पर
शक्ति नहीं रे
भक्ति चाहिए
भक्ति विनत है
और उसी का किसी जगह अवरुद्ध न पथ है

कवि चाहे किसी 'व्यक्ति' का गान करता हो, रचना चाहे 'व्यक्ति' के 'अन्तस्' से फूटी हो, पर वह एकतरफा नहीं होती—ग्राहक के अन्तस् पर भी संवाद के कारण चरितार्थ होती है। कवि पौरुष से भी अधिक महत्त्व आस्था को देता है। आस्था के बीज कभी वन्ध्या नहीं होते। आस्था और विनय के साथ जीवन यात्रा करनेवाले पथिक के लिए सभी ऊँचाइयों के द्वार निरन्तर उन्मुक्त रहते हैं। इस प्रकार जहाँ तक कविवर्य बच्चन के काव्यादर्श का सम्बन्ध है, वे मानते हैं—

(1) कला का सम्बन्ध जीवन से है, ऐसे जीवन से जो संघर्षरत होने के कारण प्राणवन्त हो। संघर्ष मानवीय मूल्यों को आस्थापूर्वक जीने के सन्दर्भ का हो।
(2) कविता अन्तःप्रेरणा से लिखी जाती है।
(3) कविता के लिए प्रतिभा के साथ-साथ अभ्यास और व्युत्पत्ति भी अपेक्षित है।
(4) कविता की चरितार्थता संवादवश ग्राहक के अन्तरंग को भिगोने में है।
(5) उक्त प्रयोजन के लिए अपेक्षित भाषा में प्रयोक्ता अपरिमेय क्षमता

अवश्य भरे।

(6) कविता का सम्बन्ध 'व्यक्ति' की 'भावना' से होने पर भी अपनी मार्मिकता में सर्वसंवेद्यता से भी है।

(7) इस भावना के विविध धरातल हैं—पार्थिव धरा पर मानवीय भावनाओं का क्षेत्र भी अथाह है।

सन्दर्भ

1. बच्चन : व्यक्तित्व और कवित्व, पत्रव्यवहार, पृष्ठ 217
2. वही, पृष्ठ 216
3. 'Comparative Aesthetics : Gesture of Western'.
4. बच्चन : व्यक्तित्व और कवित्व, पृष्ठ 208
5. वही
6. वही
7. वही, पृष्ठ 323

समकालीन काव्य के सैद्धान्तिक आधार : पारम्परिक काव्यशास्त्र के प्रतिमान

समीक्षा आलोच्यकृति के मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कारपूर्वक किया गया विश्लेषणात्मक तथा रचनात्मक आख्यान है। विश्लेषण वस्तुमुखी हो, इसके लिए आवश्यक है कि समीक्ष्य धारा की परिणत रचनाओं से प्रासंगिक प्रतिमान निर्धारित कर लिये जायें। जहाँ तक हिन्दी में 'समकालीन' रचना पर आधारित समीक्षा का सम्बन्ध है, तदर्थ सैद्धान्तिक आधारों की बात है—सर्वप्रथम मैं यह मानता हूँ कि वह 'कविता' है और कविता के लिए एक 'सर्जनात्मक अनुभूति' होनी चाहिए और चाहिए उसी में से फूटनेवाला आवयविक अखण्डता के स्तर पर 'रूप'—अभिव्यक्ति माध्यम, ठीक उसी तरह जैसे मयूर के अण्डे में स्थिर द्रवात्मक पदार्थ से ही उभरनेवाला मयूर का आकार (मायूराण्ड रसन्याय)। इसलिए सबसे पहला आधार यह है।

दूसरा यह कि काव्य या कविता यदि कविता है तो उसमें सींचकर डुबो लेने की अद्भुत क्षमता होती है और यह क्षमता अनुरूप 'सौन्दर्य' के कारण होती है। सौन्दर्य की धारणा रचयिता और भोक्ता के संवादी संस्कारों के अनुसार बदल सकती है पर काव्य के क्षेत्र में वह निःशेष नहीं होती। अतः समकालीन कविता की जाँच के लिए उसमें व्याप्त सौन्दर्य के घटक कणों का निर्धारण भी आवश्यक है। यह तो स्पष्ट है कि जिस साठोत्तर मानसिकता की प्रखर मानसिकता को, युग चेतना को 'कालांकित कविता' व्यक्त करती है—वह है अमानवीय उत्पीड़न, उसके स्रोत देश और विश्व की नियति को ध्वंस की ओर ले जानेवाली साम्प्रतिक पूँजीवादी परिग्रहप्रिय व्यवस्था और उसके सूत्रधार, देह की राजनीति चलानेवाली व्यवस्था और इन सबके प्रति विद्रोह तथा क्रान्ति की आग, पीड़ित मानवता की तह से लावे की भाँति फूटती हुई इन्कलाब की आग। यद्यपि यह चेतना और पूर्व भी थी, किन्तु तब 'रूप' के स्तर पर वह उतना सचेत नहीं थी—इसीलिए कभी-कभी वह नारेबाजी तक भी पहुँच गयी; तब प्रगतिशील समकालीन कवियों की चेतना ने इस कमजोरी को पकड़ा और फिर वह बात नहीं आने दी। मुक्तिबोध से ही यह सजगता उभर आयी। उन्होंने अपने सौन्दर्यशास्त्र में 'सोशियो-एस्थेटिक्स' की जमकर चर्चा की है। तो बात मैं 'सौन्दर्य' की ही कर रहा था। यहाँ प्रेमचन्द की याद आती

है जिसने कहा था कि एक वह चेतना है जो उभरे हुए अंगों में सौन्दर्य देखती है—एक उससे बड़ी और व्यापक मानवीय चेतना है जो पिचके हुए और झुर्रीदार चेहरे में सौन्दर्य देखती है। वह उस चेहरे की तह में निहित समाज के स्तर को रचनात्मक बनानेवाले मूल्यों के जीने के लिए किये जानेवाले अथक संघर्ष पर मुग्ध होती है, वह उन प्रतिगामी ताकतों की दानवीय वृत्तियों को लक्षित करती है, वह पीड़ा शेष मानवता की धीरे-धीरे चीरनेवाली दुर्व्यवस्था की आरी का साक्षात्कार करती है और अपनी अखण्ड सौन्दर्य चेतना के अंग रूप में उसका अंकन करती है—

लेकिन मुझे लगा कि एक विशाल
दलदल के किनारे
बहुत बड़ा अधमरा पशु पड़ा है
जिसमें लगातार भयानक बदबूदार
मवाद बह रहा है
उसमें जाति और धर्म और
सम्प्रदाय और
पेशा और पूंजी के असंख्य कीड़े
किलबिला रहे हैं और अन्धकार में
डूबी हुई पृथ्वी
पता नहीं किस अनहोनी की
प्रतीक्षा में
इस भीषण सड़ान्ध को चुपचाप सह रही है—

यह चित्र कितना वीभत्स है; अपने अभिधेय में भी और संकेत में भी। पर रचयिता की समग्र सौन्दर्यचेतना का अंग बनकर यह आता है। इसे अलग से काटकर नहीं देखा जा सकता। समस्त कविता में भले ही अन्धकार चित्रित हो पर उसकी तह में प्रकाश की किरण पाने की बेचैनी है। निष्कर्ष यह कि यह अखण्ड काव्योचित सौन्दर्य-तत्त्व भी समीक्षा का एक सैद्धान्तिक आधार है। यह काव्य का सौन्दर्य है जहाँ वीभत्स से निष्कर्ष नहीं, अपितु पाठक डूबकर खिंच उठता है। वीभत्स के ऐसे खण्ड दृश्यों से यह कविता भरी हुई है पर इन तमाम वीभत्स दृश्यों की सृष्टि राष्ट्र की पीड़ा से पीड़ित अव्यक्तिगत सुन्दर काव्यचेतना की पीठिका पर है। मूल में सौन्दर्य चेतना के निहित होने से सभी कुछ सुन्दर लगने लग गया है। कविता वही है, जो पहले इस सौन्दर्य-चेतना में निमग्न कर दे और बाद में अभीष्ट और अनुध्या शोभनता लाने का माध्यम भी बन जाय। आलोचकों की धारणा है कि समकालीन कविताओं का सौन्दर्य, वर्ण्यवस्तु के अनुपात में नहीं, विस्फोट की शक्ति और ऊर्जा में है, जो यथास्थिति को निरस्त कर मानवता के लिए मैदान साफ करती है। मेरा ख्याल है कि यदि सर्जनात्मक अनुभूति में विस्फोट की ऊर्जा चतुरस्र है तो वह आकार में भी व्यक्त होकर रहेगी। दूसरा पक्ष भी है।

कुछ लोग इस काव्यधारा की मूल चेतनागत उन विशेषताओं को भी प्रतिमान के रूप में अंकित करना चाहते हैं, जो कालांकित हैं। इसी काल की विशेषता रूप में पहचाने जाते है—जैसे, आन्दोलनकर्ता, बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्वमयी मनोवृत्ति, अमर्ष, आक्रोश, क्रोध और वैर की भावना अभीष्ट 'साम्य' के शत्रुओं के प्रति। यदि वे विशेषताएँ काव्यीय सौन्दर्य चेतना का अंग बनकर आयी हैं तो इनसे कालांकित कविता की यह पहचान करवायी जा सकती है, मुझे कोई आपत्ति नहीं।

पता नहीं क्यों—जब इतने शक्त प्रतिमानों, काव्योचित प्रतिमानों को सैद्धान्तिक आधार बनाकर समकालीन कविता का विश्लेषण सम्भव है, तब काव्येतर प्रतिमानों का ही आग्रह क्यों किया जाता है। मध्यप्रदेश की 'हस्ताक्षर' पत्रिका में एक लेखक ने प्रस्तावित किया था कि साठोत्तर कविता या कहानी के लिए सामाजिक मान-दण्डों का प्रयोग हो, पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र या काव्यशास्त्र के मानमूल्यों का नहीं, क्योंकि समकालीन लेखन का उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन है, साहित्यिक मनोरंजन या रस-सर्जना नहीं। श्री अशोक वाजपेयी ने भी डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय को लिखे गये एक पत्र में यही प्रश्न उठाया है कि क्या विरोध की कविता का कोई काव्यशास्त्र हो सकता है? मैं डॉ. उपाध्याय से सहमत हूँ कि विरोधी कविता के लिए किसी नये काव्यशास्त्र की आवश्यकता नहीं है।

निस्सन्देह विश्लेषण के लिए मानदण्ड थोपे नहीं जाते, रचना ही से प्राप्त किये जाते हैं और जब समकालीन रचना उस पारम्परिक रचना से, जिससे पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र या काव्यशास्त्र के प्रतिमान निकाले गये हैं, भिन्न हैं—तब उसके प्रतिमान भी भिन्न होने चाहिए। आपाततः यह तर्कसंगत लगता है, पर अन्ततः नहीं। क्या यह बात शपथपूर्वक कही जा सकती है कि समाज-परिवर्तन के लिए पारम्परिक या समकालीनोत्तर रचनाएँ नहीं की गयी हैं? क्या यह प्रतिमान केवल समकालीन रचना पर ही लागू होता है?

कहा जा सकता है कि भले ही समाज-परिवर्तन की दृष्टि अन्यत्र भी रही हो, पर 'दृष्टि' विशेष से लाया जानेवाला वह सामाजिक परिवर्तन, जहाँ इसी धरती पर छायी हुई विषमता के अन्धकार को चीरकर समानता का प्रकाश बिखरा देना अभीष्ट हो—समकालीन नव-प्रगतिशील कविता में ही देखा जाता है और यही भाव तथा रूप की अविच्छेद्यता निबाही जाती है, अतः इससे निर्गत प्रतिमान ही इस धारा की समीक्षा के लिए आधार है और होना चाहिए। चूंकि इन रचनाओं के मूल में सामाजिक दृष्टि है, सामाजिक चेतना प्रेरणास्रोत है, अतः सामाजिक मानदण्डों का ही प्रयोग होना चाहिए। क्रमागत दृष्टि जो आजमायी जाकर निरर्थक सिद्ध हो चुकी है, के विरोध में ही जो कविता लिखी जा रही हो, उसका भी कोई काव्यशास्त्र—अनुशासनकारी मानदण्ड—हो सकता है?

सामाजिक परिवर्तन की चेतना से काव्येतर साहित्य भी लिखा गया है और काव्य भी लिखा जाता है। मैं जानना चाहता हूँ कि दोनों का अन्तर कहाँ होता है? यह केवल सामाजिक चेतना है, जो दोनों को पृथक् करती है (जो वस्तुतः नहीं करती

है) या कुछ और ? प्रथम विकल्प तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि वह उभयनिष्ठ है और तब द्वितीय विकल्प ही शेष बचता है। यह कुछ और है जो अ-साहित्य से साहित्य को पृथक् करता है–और यह व्यावर्तक चेतना काव्योचितसौन्दर्य चेतना है, जो समाज चेतना को आत्मसात् किये हुए है, अतः 'विरोध', 'द्वन्द्व', 'आन्दोलकता' आदि सभी इस चेतना के अंग बनकर आते हैं। इसीलिए उस सौन्दर्य-चेतना की अभिव्यक्ति के लिए समकालीन कवि भी भाव और रूप की अखण्डता पर कविता की चरम परिणति मानते हैं। काव्येतर स्तर पर लेखक को इसका ध्यान नहीं रहता है। यहाँ न तो उस सौन्दर्य-चेतना के अनुरूप सांकेतिक अभिव्यंजनाएँ होती हैं, न प्रतिभा पूर्ण व्यवधानों का प्रयोग। निष्कर्ष यह कि कविता के ये पारम्परिक प्रतिमान यहाँ भी उपयोगी हो सकते हैं।

साहित्यिक मनोरंजन या रससर्जना उतनी हल्की वस्तु नहीं है, जितनी हल्की समझकर उसका उल्लेख किया जाता है। पारम्परिक काव्यशास्त्र कविता की चरितार्थता केवल आत्माभिव्यंजन में नहीं मानता, कम-से-कम भारतीय काव्य चिन्तन सामाजिक को ही केन्द्र में रखकर उसकी सफलता मानता है। वह रचना और उपभोग दोनों स्तरों पर सामाजिकता का आग्रही है, क्योंकि व्यक्तिगत मनोभूमि न काव्य की निर्माणभूमि है और न ही भोगभूमि। समाज की रचनात्मक धारा में स्नात मनोभूमि ही सौन्दर्यदर्शी होकर काव्य का उत्स बनती है और सामाजिकगत अपनी परिणति में (साहित्यिक) मनोरंजनात्मक और रसात्मक बन सकती है और मनुष्य को भीतर से बदलकर समाज-परिवर्तन में उपयोगी हो सकती है।

काव्य की इस असाधारण (व्यावर्तक) सौन्दर्य-चेतना को स्पष्ट करने के लिए, सामाजिक परिस्थितियों का सन्दर्भ लिया जाय, काव्येतर लोकमांगलिक सामाजिक मानदण्डों का भी सहारा विश्लेषण के लिए लिया जाय। अन्यान्य अनुशासनों के आलोक में उसे और बोधगम्य और उपादेय निरूपित किया जाय तो किसी को क्या आपत्ति है ? पर हाँ, इन सबसे हम काव्यचेतना को ही समझ सकें, तो ठीक है। ऐसा न हो कि काव्येतर मानदण्ड इतना हावी हो जायें कि कवि की मूल सौन्दर्य-चेतना नितान्त उपेक्षित हो जाय। उसे विश्लेषित करने और समझने में यदि अन्तरानुशासी पद्धति का प्रयोग हो, तो इस जिज्ञासुयुग में उसका विरोध क्यों ?

यों कविता की भाषा विशेष, भाषा का ही एक विशेषरूप है, जो सर्जनात्मक अनुभूति की त्वचा है। शैली विज्ञान तथा नयी समीक्षा मानती ही है कि आलोचना का केन्द्र कृति है और कृति भाषा विशेष है। अतः भाषा ही सबसे बड़ा प्रतिमान है, उसकी क्षमता पर ही कविता का सबकुछ है। शैली वैज्ञानिक शब्दों के पीछे रहनेवाले संस्कारों, अर्थों तथा सन्दर्भों के सहारे काव्य-सौन्दर्य को विश्लेषित करते हैं—काव्येतर मानदण्डों का त्याग कर देते हैं—उनका आरोपण अस्वाभाविक मानते हैं, पर काव्यानुभूति की धातु की परख के लिए जितने भी अनुशासनों का प्रकाश मिले, अच्छा है। समाज में स्वतन्त्रता निरनुशासित नहीं, अनुशासित और सापेक्ष होती है, कम-से-कम जो लोग काव्य को सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं, उन्हें तो

काव्य को उसका अंग होने के कारण अनुशासित करना ही होगा, वह प्रतिमान से हो या सूझ-बूझ से, अतः उसका शासन होना ही चाहिए।

समकालीन कविता का लक्षण बताते हुए कहा जाता है कि वह कालांकित होती है। वह शाश्वत मूल्यों, तथ्यों, सत्यों की कविता न होकर अपने युग की चेतना की प्रखर वाहिका होती है। यद्यपि ऐसा होता है कि व्यक्ति सत्य और सामयिक सत्य अपने में व्यापक सत्य की भी सम्भावना रखते हैं और इससे कविता कालजयी होती है, पर इस धारा के वकीलों का यह पक्ष है कि व्यापक सत्य इस धारा का प्रतिपाद्य नहीं है—वह हो भी तो अभिप्रेत नहीं। नयी कविता इन और ऐसे सत्यों पर अवश्य केन्द्रित होती थी। मेरा पक्ष यह है कि सामयिक सत्य और चिरन्तन सत्य पर बलाबल की स्थिति हो सकती है पर दोनों सत्यों की एक आधार काव्य में सह-स्थिति कविता में वजन ही लाती है, उसको छाँटने से काव्य का विशेष उपकार नहीं होता। सर्जक यदि सर्जक है तो मानवीयता की धुरी पर सक्रिय होने के नाते अनेक चिरन्तन सत्यों की बात अनजाने कह सकता है। क्रमागत चिरन्तन और उपयोगी तत्त्वों से सामयिक सत्य विच्छिन्न होते भी नहीं, अतः माना कि कालांकित कविता में चिरन्तन सत्यों पर बल नहीं होता पर वह अवांछित है—यह ठीक नहीं। मोना गुलाटी की एक पंक्ति है—

> रति-क्रिया करने के लिए आकाश यदि गहरा हो जाय, समुद्र की
> भाँति, तो भी वह नहीं दे पायेगा
> अण्डा।

इसमें एक चिरन्तन सत्य की ही बात है। पुरुष विचार और आकाश अण्डा नहीं दे सकते, रचनात्मक नहीं हो सकते, चाहे वे रचनात्मक सम्भावना का आधान कराने की क्रिया की मात्रा जितनी भी बढ़ा दें। यह केवल और अपने आपमें अमहत्त्वपूर्ण है, ऐसी बात नहीं, पर अपने 'काउण्टर पार्ट' की अपेक्षा इन्हें रचनात्मक होने के लिए अनिवार्य है। भाई शमशेरजी को इस पंक्ति में अन्तर्विरोध होने की शिकायत है। वे कहते हैं कि यदि आकाश समुद्र हो जाय, इस उक्ति में आकाश की निरन्तर गहराई शान्त होती है—इसका ध्यान नहीं रखा गया। अस्तु। इसी प्रकार कमलेश की 'जरतकारु' रचना का संकेत भी चिरन्तन सत्य में है और वह यह कि पितृऋण उतार-कर ही किसी व्यक्तिगत चरम उपलब्धि की ओर जाया जा सकता है। मनुष्य पहले अपने सामाजिक होने को सार्थक करे, फिर व्यक्तिगत समाजविरोधी उपलब्धि करे।

निष्कर्ष यह कि 'समकालीन कविता' की समीक्षा के लिए कतिपय **पारम्परिक काव्यशास्त्रीय प्रतिमान उपादेय** हैं। उनको सैद्धान्तिक आधार बनाया जा सकता है। कारण, वह पहले कविता है, अतः उसकी पहली प्रतिबद्धता कविता होने की है और कविता की एक क्रमागत अवधारणा है। यह सही है कि उसकी सामाजिक चेतना और तदनुरूप अनुभूति में निहित सर्जनात्मक ऊर्जा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और वह परिवर्तन के लिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति को माध्यम बनाती है, साध्य

नहीं। फिर भी माध्यम होने की शर्तों को तो पूरा करना पड़ेगा, फिर उसके मूल उपादान भूत सामाजिक चेतना के औचित्य का सामाजिक मानदण्डों द्वारा भी विश्लेषण किया जाय, इसमें किसे विसहमति है? सवाल यह है प्रधान कौन हो? सामाजिक चेतना-संवेदना, जो सर्जनात्मक अनुभूति के रूप में परिणत होती है या काव्यचेतना, काव्यसौन्दर्य? किसको उभारने में किसे माध्यम माना जाय? समकालीन काव्यधारा सामाजिक चेतना से प्रतिबद्ध है, पर यह भी तो है कि वह अनुरूप माध्यम को गर्भीकृत करके ही काव्योपयोगी सर्जनात्मक रूप ग्रहण करे। कथ्य और माध्यम की यह अविच्छेद्यता काव्यशास्त्र का एक रेखांकनीय पक्ष है।

हिन्दी आलोचना का वर्तमान स्वरूप

आलोचना रचना की तह में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कारपूर्वक किया गया विश्लेषणात्मक आख्यान है और इसके लिए क्रमागत मानदण्डों की अपेक्षा आलोचक की अन्तर्दृष्टि ही अधिक सक्षम है। इस अन्तर्दृष्टि को धारदार और परिष्कृत करने के लिए ज्ञानार्जन और अभ्यास नितान्त अपेक्षित है। वैसे आचार्यों ने यह भी स्वीकार किया है—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

अर्थात् जिसे प्रकृति प्रदत्त अन्तर्दृष्टि नहीं है, वह भी यदि निरन्तर श्रम करता रहे तो अभूतपूर्व क्षमता अर्जित कर सकता है, और अन्तर्दृष्टि सम्पन्न समीक्षक के स्तर तक पहुँच सकता है। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि सम्पन्न और व्युत्पन्न—दोनों प्रकार के समीक्षकों से रचना की समीक्षा के सन्दर्भ में अनेक अनुरूप प्रतिमान भी निकलते रहते हैं, जिनसे समीक्षा का सैद्धान्तिक रूप विकसित होता है। इस प्रकार समीक्षा के दो रूप हैं—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक।

जहाँ तक हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा के वर्तमान स्वरूप का सम्बन्ध है—छायावाद से पूर्व क्रमागत मानदण्डों पर कोई प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगा था। 'भावमय व्यक्तित्व' की अभिव्यंजना पर केन्द्रित छायावादी रचनाओं के सन्दर्भ में पहली बार क्रमागत मानदण्डों की अपर्याप्तता घोषित की गयी किन्तु शीघ्र ही **छायावाद** के पक्षधर समीक्षक आचार्य वाजपेयी ने रससिद्धान्त की सर्वातिशायी महत्ता स्वीकार कर ली—वैसे शुक्लजी तो समझा ही रहे थे कि 'हृदयवाद' और 'रसवाद' में कोई फर्क नहीं है। **प्रगतिवादी** रचनाओं के सन्दर्भ में भी 'सामूहिक भाव' की व्यंजना 'रसवाद' के विरुद्ध नहीं पड़ती। इसीलिए रामविलासजी ने इसे काम की वस्तु कहा है। **उत्तरछायावाद** तो वासना की उन्मुक्त अभिव्यंजना है ही—जहाँ प्रसन्न शब्दावली में निर्व्याज रूप से लौकिक वासना की काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है। यह **छायावादोत्तर काव्य** प्रस्थान है, जहाँ अतिरिक्त भावुकता का विरोध करते हुए भी 'व्यक्तित्व' की व्यंजना पर बल दिया गया। छायावाद का 'भावमय-व्यक्तित्व' दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही भूमियों पर विवेचित

हुआ, पर छायावादोत्तर काव्य का 'व्यक्तित्व' विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों और निष्पत्तियों के प्रकाश में आलोकित हुआ। छायावाद का अन्तर्मुखी व्यक्तित्व 'दर्शन' की और छायावादोत्तर का अन्तर्मुखी 'व्यक्तित्व' मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र की निर्दिष्ट दिशा में व्यंजित होता गया। प्रक्रान्त धारा के सैद्धान्तिक चिन्तन में 'व्यक्तित्व' पर अनेक दृष्टियों से विचार हुआ। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र के अतिरिक्त टी. एस. इलियट आदि काव्य-शास्त्रियों का भी प्रभाव देखा गया। काव्य को व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के साथ व्यक्तित्व से पलायन भी कहा गया और भोक्ता तथा स्रष्टा के बीच पार्थक्य भी लक्षित किया गया। सवाल यह भी खड़ा किया गया कि व्यक्तित्व निरन्तर विकसनशील है या कि अनुवंश से नियन्त्रित और परिवेश से पालित ? छायावादोत्तर काल में 'व्यक्तित्व' की महत्ता होने से, उस बात की मनःस्थिति के असमाहित और द्वन्द्वग्रस्त होने से 'सामान्य' और 'विश्रान्ति' सापेक्ष 'रसवाद' का घोर विरोध हुआ। रसवाद के विरोध का एक और कारण था और वह था—'भाव' की जगह 'बुद्धि' का स्थानापन्न होना। इसीलिए इस धारा के आलोचक जगदीश गुप्त ने काव्य के केन्द्र से रसानुभूति को हटाकर सह-अनुभूति को प्रतिष्ठित किया। अपने पक्ष को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि विज्ञान की तरह काव्य का लक्ष्य भी 'सत्य' की उपलब्धि है जो रसानुभूति के लिए अपेक्षित 'व्यक्तित्व के विलयन' की जगह 'व्यक्तित्व' को बनाये रखने से ही सम्भव है। साथ ही यह भी माना गया कि भाषा केवल ज्ञान के प्रकाशन का ही माध्यम नहीं है—अज्ञात की खोज का भी माध्यम है। लेकिन सच पूछा जाय तो **काव्य के सत्य** और **विज्ञान के सत्य** में फर्क है। फर्क यह है कि काव्य का सत्य, व्यक्ति-सत्य है, अतः (सब्जेक्टिविटी) आध्यन्तरिकता—का होना अनिवार्य है, जबकि विज्ञान का सत्य ऐसा नहीं होता। यह अवश्य है कि काव्य-सत्य, व्यक्ति-सत्य होकर भी सर्वजन-संवेद्य होने की क्षमता रखता है और ऐसा होकर ही वह काव्य के लिए उपादेय होता है। कभी-कभी यह सवाल भी उठता रहा कि जीवनानुभूति और काव्यानुभूति एक हैं या भिन्न। रिचार्ड्स का सहारा लेकर आचार्य शुक्ल ने भी दोनों की एकता की ओर संकेत किया है। प्रगतिवादी धारा ने भी इसको समर्थन दिया। वास्तव में यह भ्रम है कि प्राचीन काव्यशास्त्र में काव्यानुभूति को पारलौकिक अर्थ में अलौकिक कहा गया। वहाँ भी काव्यानुभूति को लौकिक ही माना गया है, केवल व्यवहार की अन्य सुख-दुखमयी अनुभूतियों से इसे भिन्न माना गया। फलतः उसे अलौकिक कहा गया। सचमुच कल्पना के स्तर पर चुनाव से जीवनानुभूति, काव्यानुभूति के रूप में रची जाती है—इससे इनकार करना कठिन है। काव्य-रचना की प्रक्रिया में जिस दबाव से जीवनानुभूति में परिणति होती है, उससे कुछ अलौकिकता उसमें आ जाती है। इसीलिए वह अपनी दुखात्मकता में भी स्पृहणीय हो जाती है। आत्मवादी भूमिका पर सोचें तो बात ही अलग है।

साठोत्तरी कविता प्रतिपक्ष की कविता मानी जाती है। यह एक ऐसा व्यावर्तक

बिन्दु है, जिस पर प्रगतिवादी और गैर-प्रगतिवादी दोनों ही सहमत हैं। यह धारा अपने समय की व्यवस्था विरोधी प्रखर चेतना से सम्पृक्त है और चिरन्तन तथा शाश्वत मूल्यों और मान्यताओं से हटकर कालांकित चेतना से सम्पृक्त है। यह अवश्य है कि नव-प्रगतिवादी कविता का केवल विरोध के लिए विरोध नहीं, अभीष्ट 'परिवर्तन' के लिए विरोध करते हैं। दूसरा, विचारधारा विशेष से प्रतिबद्ध होने के कारण 'परिवर्तन' के लिए नहीं, अपनी ईमानदार अनुभूति की अभिव्यक्ति से मतलब रखता है। इन लोगों की धारणा है कि कविता चूँकि परिवर्तन के लिए या विरोध के लिए लिखी जा रही है—मनोरंजन या साहित्यिक आस्वाद के लिए नहीं, अतः उसकी समीक्षा की धुरी भी बदल देनी चाहिए। उसका मूल्यांकन काव्येतर सामाजिक मानदण्डों से होना चाहिए। क्योंकि उसी से वह परिचालित है। यहाँ न तो साहित्यिक आस्वाद के लिए कविता लिखी जा रही है और न ही सत्य की उपलब्धियों के लिए। यहाँ तो कविता हाथ की छटपटाहट बन गयी है। इस धारा में कविता राजनीति के अधिक पास आ गयी है। इसीलिए जहाँ विचारधारा विशेष से सम्बद्ध दल काव्येतर प्रतिमान की माँग इसके मूल्यांकन के लिए कर रहा है, वहीं दूसरा पक्ष किसी भी प्रकार के काव्यशास्त्र की अनपेक्षा कर रहा है, क्योंकि वह किसी विचारधारा से बँधना नहीं चाहता। बन्धन को सर्जना का घातक समझता है। सवाल यह है कि काव्य का मुख्य लक्ष्य पाठक को 'प्रभावित' करते हुए 'परिवर्तन' लाना है या 'प्रभावित' करके विश्रान्त हो जाना। प्रभाव साधन है, परिवर्तन साध्य या प्रभाव साध्य है, परिवर्तन गौण या नगण्य ? परिवर्तन तो काव्येतर साधन भी ला सकता है। काव्य का व्यावर्त्तक महत्त्व क्या है ? वास्तव में काव्योचित सौन्दर्य-चेतना मुख्य होनी चाहिए और सामाजिक चेतना अन्तर्भुक्त। यदि काव्य पहले काव्य नहीं है— तो है क्या ? और ऐसा होने के लिए काव्योचित संवेदन को, जैव-प्रक्रिया से भाषा के आकार में अमूर्त होना चाहिए और यहीं काव्यशास्त्र आ जाता है। अतः इस पर भी विचार किया गया। डा. विश्वम्भरनाथ ने इसका समर्थन किया।

जहाँ तक व्यावहारिक समीक्षा का सम्बन्ध है—वह उत्तरोत्तर अधिक चिन्त्य होता जा रहा है और इसका असर सैद्धान्तिक समीक्षा पर भी पड़ता जा रहा है। जैसा कि आलोचना को परिभाषित करते हुए आरम्भ में ही कहा गया है कि समीक्षा के लिए समीक्ष्य-कृति के मूल में निहित सर्जनात्मक संवेदन का साक्षात्कार पहली शर्त है और इसके लिए परकाया प्रवेश नहीं, परान्तः प्रवेश की क्षमता अपेक्षित है। इस क्षमता के साथ समीक्षक, समीक्षा के व्यावहारिक क्षेत्र में प्रवेश करता है, फिर उसका विश्लेषणात्मक आख्यान करता है, भाष्य करता है। दूसरा सोपान है अन्वयव्यतिरेकी पद्धति से मूल संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित उपकरणों की क्षोदक्षम परीक्षा। साथ ही यह सब इस ढंग से हो कि समीक्ष्य कृति का मूल संवेदनगत सौन्दर्य या प्रभाव सामान्य पाठक तक पहुँच जाय। रचना खरी है या खोटी, यह तो स्वयं ध्वनित हो जायेगा। आलोचना इस प्रकार नयी रचना के मूल

मुहावरे को स्पष्ट कर पाठक को उसमें रुचिपूर्वक प्रवृत्त कराती है—नयी रचना की समझ पैदा करती है। रचना या रचनाकार में यदि सर्जनात्मक ऊर्जा स्तरीय ढंग की है—तो वह अपनी व्यक्तिगत पहचान बनाकर रहेगी—समीक्षक रचनाकार की इस विशिष्ट व्यावर्तक और प्रत्यभिज्ञापक रेखाओं को भी उभार देता है। व्यावहारिक समीक्षा की इस प्रक्रिया से एक ओर सैद्धान्तिक प्रतिमानों के निकलने की सम्भावना है तो दूसरी ओर नयी रचना की समझ को विकसित करना, उसकी सारवत्ता को उभारना, साथ ही तुलनात्मक विश्लेषण से वैशिष्ट्य को अनावृत करना।

वर्तमान व्यावहारिक समीक्षा प्रथम स्तर पर ही लड़खड़ा रही है—फलतः आलोचना का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो पा रहा है। डॉ. नगेन्द्र 'सोनमछली' का भाष्य गलत कर रहे हैं और मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' की व्याख्या पर प्रगतिवादी (डॉ. नामवर सिंह तथा अशोक चक्रधर) ही असहमत हैं। छायावादोत्तर काव्यधारा के शलाका गुरुओं की काव्य-रचना की समझ उन पर लिखी हुई आलोचनाओं से कितनी विकसित हुई है! 'कविता के नये प्रतिमान' मुक्तिबोध का स्तोत्र और 'कहीं-कहीं' डॉ. नगेन्द्र का श्राद्ध-तर्पण-सा लगता है। आलोचना में यह राग-प्रेम, यह पक्षधरता और दलबन्दी, यह आवश्यक नहीं। खेद का विषय है कि मुक्तिबोध को उठाने के लिए अज्ञेय को या अज्ञेय को उठाने के लिए मुक्तिबोध को, त्रिलोचन को उठाने के लिए श्रीकान्त को और श्रीकान्त को उठाने के लिए त्रिलोचन को, नागार्जुन को उठाने के लिए सर्वेश्वर को या रघुवीर को अन्यथा कहा जाय। आलोचना के नव्यतम अंक में नन्दकिशोर नवल ने 'भूरी-भूरी खाक धूल' की जो आलोचना लिखी है—वह कुछ दूर तक उसके भाष्य का काम करती है। अशोक चक्रधर का भी प्रयास इस दिशा में उल्लेख्य है। इधर विद्यानिवास मिश्र ने 'अज्ञेय' को समझने के कुछ सूत्र अपनी आलोचनाओं में दिये हैं। गुटबन्दी और पक्षधरता वर्तमान आलोचना के कोढ़ हैं—इन्हें हटना चाहिए। कुबेरनाथ राय की 'ब्रह्मराक्षस' पर व्याख्या अनुकरणीय है।

रचनाकारों की ओर से कथ्य और शिल्प के स्तर पर वैयक्तिकता का जो आतंक भर दिया जाता है—उससे आलोचक को भाष्य में कठिनाई आती है—फलतः रचनाकार स्वयं आलोचक बन जाता है और जब कारयित्री भावयित्री प्रतिभा के क्षेत्र में संचरण करती है तब प्रसन्न आलोचना की जगह या तो गद्य-काव्य (छायावाद : पुनर्मूल्यांकन) आता है या अनिर्णीत और अस्पष्टार्थक शब्दावली द्वारा एक आलोचनाभास रचना।

आलोचक, रचना की आलोचना करने से पहले अपने अन्तस् से पूछ ले कि वह रचनाकार की रचनात्मक मनःस्थिति का साक्षात्कार कर सका है, मूल संवेदन से भीग सका है, उसका मर्म पकड़ सका है? इन प्रश्नों का उत्तर मिलने से पूर्व समीक्षा के क्षेत्र में नहीं उतरना चाहिए। उतरने पर आलोचक अन्यत्र पाण्डित्य प्रदर्शन करता है। वर्तमान समीक्षा में ऐसे प्रयास बहुत मिलते हैं।

समीक्ष्य कृति पर काव्येतर प्रतिमानों के संचार से आलोचना विकृत होती है—अतः इधर भाषिकी के आचार्यों ने तथा नयी समीक्षा के पक्षधरों ने कृति केन्द्रित समीक्षा की बात कही है और एतदर्थ 'भाषा' को ही माध्यम मानकर शैली वैज्ञानिक पद्धति से विश्लेषण का आग्रह किया है। कई कृतियों की इस पद्धति पर समीक्षा हुई है और हो रही है। शैली विज्ञान, भाषा की ध्वन्यात्मक इकाई से लेकर रूप और वाक्य के स्तर तक Contextually related norms से विचलन की परीक्षा तो करना ही है—वाक्य समुदाय प्रकरण और प्रकरण-गर्भ प्रबन्ध तक के स्तरों पर इस पद्धति से भाष्य करने के लिए socio-linguistics का भी सहारा लेता है।

आलोचक और रचनाकार दोनों ही आलोचना और रचना लिखें—उनकी निरवधि सम्भावनाओं को सावधि बनाकर शीघ्र चुक जाने की प्रक्रिया छोड़ें—वे जब भी 'विशेषण' लगाकर रचना के क्षेत्र में विघटन का पथ पकड़ेंगे, तब वह किसी के हित में न होगा। हम 'आप्रण्विता' और 'दस्तावेज' न लिखें, रचना करें। ये तत्त्व स्वयं आ जायेंगे। खेद तब और भी होता है जब समर्थ रचनाकार और समीक्षक भी शीघ्र दुरहन्ता की तुष्टि के लिए 'विशेषण' द्वारा 'विशेष्य' की सम्भावना अवरुद्ध कर स्वयं आत्मनिर्मित जाल में फँस जाते हैं। 'विशेषण' एक खास प्रकार के कथ्य-शिल्प या विश्लेषण में बाँधता है। उससे हमारी रचना और आलोचना की सम्भावना मर जाती है।

ooo

'राजकमल' से प्रकाशित

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी की एक और

महत्त्वपूर्ण पुस्तक

र ह स्य वा द

रहस्यवाद जैसे गूढ़, गहन और अस्पष्ट विषय पर गम्भीर विवेचन के लिए डॉ. त्रिपाठी की यह कृति विद्वानों के बीच बहुचर्चित रही है। इसमें पाँच अध्याय हैं : 1. स्वरूप तथा प्रकार, 2. अनुभूत रहस्य तत्त्व का स्वरूप, 3. रहस्यानुभूति की प्रक्रिया, 4. साधनात्मक रहस्यवाद, 5. रहस्य की अभिव्यक्ति। वस्तुतः यह पुस्तक पश्चिमी धारणाओं के बजाय रहस्यवाद के भारतीय स्वरूप और उसकी साहित्यिक उपलब्धियों के सन्दर्भ में विस्तृत जानकारी देती है।

राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

'राजकमल' से प्रकाशित
डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी की एक और
महत्त्वपूर्ण पुस्तक

र ह स्य वा द

रहस्यवाद जैसे गूढ़, गहन और अस्पष्ट विषय पर गम्भीर विवेचन के लिए डॉ. त्रिपाठी की यह कृति विद्वानों के बीच बहुचर्चित रही है। इसमें पाँच अध्याय हैं : 1. स्वरूप तथा प्रकार, 2. अनुभूत रहस्य तत्त्व का स्वरूप, 3. रहस्यानुभूति की प्रक्रिया, 4. साधनात्मक रहस्यवाद, 5. रहस्य की अभिव्यक्ति। वस्तुतः यह पुस्तक पश्चिमी धारणाओं के बजाय रहस्यवाद के भारतीय स्वरूप और उसकी साहित्यिक उपलब्धियों के सन्दर्भ में विस्तृत जानकारी देती है।

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना